पहिये की धुरी

[विचारोत्तेजक साहित्यिक निबंध]

श्री केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'

प्राप्ति स्थान



मछुआटोली—पटना-४

प्रथम संस्करण] १९५९ [मूल्य २–७५ नै० पै०

प्रकाशक :

राष्ट्रीय साहित्य सदन

१७, गुईन रोड, लखनऊ

अन्य प्राप्ति स्थान :

गंगा पुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ

ज्ञान मंडल (प्राइवेट) लिमिटेड वाराणसी

राष्ट्रीय प्रकाशन मंडल, मछुआटोली पटना-४

प्रभात प्रकाशन, मथुरा, दिल्ली

मुद्रक :

योगी प्रेस, पटना

पहिये की धुरी

"प्रभात"

दो-शब्द

प्रस्तुत संग्रह के कई निबंध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। 'हिंदी-कविता का वर्तमान और भविष्य' १९४६ में पटना कालेज की हिंदी-साहित्य-परिषद् द्वारा आयोजित साहित्यिक सप्ताह के अवसर पर लिखा गया था। 'आज का हिंदी-साहित्य' शाहाबाद जिला-हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के आठवें अधिवेशन (१९५६) के अध्यक्ष पद से दिये गये भाषण का संक्षिप्त रूप है।

इन निबंधों में कवि का हृदय सर्वत्र मिलेगा, आलोचक का दृष्टिकोण कहीं नहीं।

३, हार्डिञ्ज रोड,
पटना
श्रीकृष्णाजन्माष्टमी १९५९

केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'

अनुक्रम

समर्पण

वर्चस्वी साहित्यकार श्रद्धेय

श्री विश्वमोहन कुमार सिन्हा, एम० ए०, बी० एल०

को सादर

साहित्य का मूल्य-निर्धारण

किसी भी देश के साहित्य का विसंगत अथवा अनियमित विकास नहीं होता। वह भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के संगम का स्वाभाविक एवं अनिवार्य परिणाम है, और कल्पना, स्थापत्य, संविधान, शिल्प, रूप-रंग आदि-आदि दिशाओं में परिलक्षित होता है—कहीं चरम तक पहुँचा हुआ, कहीं बहुत कम, कहीं एकदम शून्य। विचार-जगत् के आंदोलन के साथ-साथ साहित्य का भी निर्माण और विकास होता रहता है। इस आंदोलन के रुकने के साथ ही निर्माण की क्रिया भी रुक जाती है। स्पष्ट है, साहित्य किसी भी राष्ट्र के मन-मस्तिष्क में उठनेवाले अथवा समवाप्त विचारों के निग्रंथन का ही एक नाम है।

जब हम साहित्य-जैसे विषय पर विचार व्यक्त करें, तो उसकी उपलब्धियों पर प्रकाश डालें या नहीं, यह एक प्रश्न है। मुझे ऐसा लगता है, इस प्रश्न पर विचार करने के समय हम अतीत को छोड़ नहीं सकते। जो देश जितना समृद्ध होगा, उसका साहित्य भी उतना ही

उन्नत होगा। भौतिक तथा आध्यात्मिक, दोनों दृष्टियों से यह बात सत्य ठहरती है। पाश्चात्त्य देशों ने भौतिकवाद का पथ अपनाया, और वैज्ञानिक विकास की ओर द्रुत वेग से बढ़े। परिणामतः उन देशों का साहित्य भी समृद्ध हुआ, विविधताओं से पूर्ण, विज्ञान के चमत्कार से प्रकाशमय। हमारे देश ने अध्यात्म से प्रेम बढ़ाया, प्रकृति के अत्याचारों की आँच में अपने शरीर को तपाया, जिसके फलस्वरूप वह त्रिकालज्ञ हुआ। वह 'अज्ञात, अदृश्य और अनन्त' के रहस्योद्घाटन में सफल हुआ। कहा जाता है, पश्चिम का रहनेवाला घटनाओं और बातों को तथा भारतवर्ष का रहनेवाला आदर्शों को लेकर चलता है। पश्चिम संसार की भौतिक विभूतियों का रक्षक है; भारतवर्ष संसार की आध्यात्मिक धरोहर का सजग प्रहरी है, काल और सीमा के पार बसनेवाले सपनों को रंग-रूप देनेवाला है।

साहित्य-संबंधी किसी भी सैद्धांतिक विषय के विवेचन तथा उसके मूल्य-निर्धारण के हेतु यह आवश्यक है कि हम जिस साहित्य की बात करने चले हैं, उसके मूल-स्रोत तक पहुँचे; उस काल पर दृष्टि डालें, जब उसका उत्थान और विकास हुआ, एवं उस वातावरण को ध्यान में रक्खें, जिसकी विशिष्ट छाप उस पर पड़ी। उचित तो यह भी है कि इस प्रसंग में हम अन्य साहित्यों का भी उल्लेख करें। किसी भी समस्या-मूलक साहित्यिक प्रश्न को अलग रखकर उसे समझ लेना अथवा समझा देना कठिन हो जाता है, क्योंकि पृथकत्त्ववादी दृष्टिकोण की अपनी सीमाएँ होती हैं। तुलनात्मक अध्ययन से चेतना का रूप निखर जाता है।

ऐसे सर्वेक्षण से हम उन तत्त्वों की भी जानकारी प्राप्त कर लेते हैं, जिनके कारण किसी साहित्य को स्थायित्व मिलता है। साहित्य युग-युग की सम्पत्ति है। एक युग का साहित्य दूसरे युग में तभी जीवित रहेगा, जब वह जीवन के शाश्वत मूल्यों को लेकर चले, तथा काल और

सीमा को पारकर उन आदर्शों का दीप जलाए रक्खे, जिनके निर्माण के इतिहास में राष्ट्र, सभ्यता एवं संस्कृति के निर्माण का इतिहास छिपा रहता है। नवयुग की चेतना का नया रूप हो सकता है। उसकी हर अँगड़ाई से धरती डोल सकती है, आकाश कंपित हो सकता है; परन्तु उसके द्वारा नवीकरण का यज्ञ तभी सफलता-पूर्वक सम्पन्न होगा, जब पुरोहित के रूप में उसकी आत्मा का आलोक अतीत की ऋचाएँ पढ़कर वर्त्तमान के ललाट पर भविष्य की स्वर्ण-रश्मियों से मंगल-तिलक खींचेगा।

साहित्य मनुष्य-जीवन को अनेक बिंदुओं पर स्पर्श करता है, और मानव-अस्तित्व से संबंधित प्रश्नों तथा समस्याओं पर उसका विविध रूपों में प्रभाव पड़ता है। यहीं पर साहित्य के मूल्य का प्रश्न उठता है। प्रकाश के अनेक अमिटकण अपने साथ लेकर मनुष्य मिट्टी के शरीर में उतरता है। इन अमिट कणों को हम अक्षर और शब्द कहते हैं। जिसके चिरंतन साथी अक्षर और शब्द हों, वही मानव-जीवन जब अपनी विविध झंकारों, सपनों, चेतनाओं एवं अनुभूतियों में व्यक्त होता है, तभी निर्माण के हाथों में साहित्य मिलता है। वस्तुतः साहित्य एक दर्पण है, जिसमें हम अपनी ही चेतनाओं और सपनों को देखते हैं। वह आकाश-वीणा की भाँति है, जिसके तारों में हमारी ही आत्मा की पुकार गूँजती रहती है। हम अपने स्वरूप को देखकर तथा अपने हृदय का स्वर सुनकर अपने को पहचान लेते और अपना पथ बनाते चलते हैं।

मैं आलोचक नहीं हूं, इसलिये आलोचना—सिद्धांत का प्रश्न नहीं उठाना चाहूंगा। परन्तु मैं ऐसा सोचता हूँ कि सातत्य, अथवा परंपरा को अलग हटाकर शायद ऐसा विवेचन नहीं किया जा सकता। साहित्य का वर्तमान अथवा वर्तमान साहित्य एक सातत्य है; विकास की एक परंपरा है। यदि अतीत जीवित है, तो वह हमें वर्तमान में ही मिलेगा; अन्यत्र नहीं मिल सकता।

समवाप्त दृष्टिकोण को उपलब्धियों के नाम से पुकारूँ, तो कोई अनर्थ न होगा। साधारणीकरण की भाषा में मैं उसे स्थापना अथवा स्थिरीकरण भी कह सकता हूँ। जब मूल्य-निर्धारण का प्रश्न उठेगा, तब हमें यह देखना ही पड़ेगा कि हम किन सिद्धांतों को मान्यता दे चुके हैं, हम किस पथ से चलकर उस ऊँचाई तक पहुँच सके हैं, जहाँ हमारा अतीत सगर्व खड़ा है। यदि हम ऐसा नहीं करते, तो पूर्व-निर्धारित सिद्धांतों के पुनर्मूल्यांकन एवं नए मानों के निर्धारण का प्रश्न असमीचीन प्रतीत होगा।

यह सही है कि परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं, और इस परिवर्तन के फल-स्वरूप विचार-धारा तथा मान्यताओं में भी परिवर्तन होता रहता है। लोग ऐसे परिवर्तन की आवश्यकता भी महसूस करते हैं। परन्तु संक्रमणकालीन अनिश्चयता आलोचक, चिंतक तथा विचारक के मत-निर्धारण की आधार-शिला नहीं बन सकती। इसका कारण यह है कि ऐसी परिस्थिति में समवर्णोपधान की संभावना निरंतर बनी रहती है। अतएव मूल्य-निर्धारण की सार्थकता के लिये आलोचनात्मक दायित्व को मानकर समवाप्त दृष्टिकोण से वर्तमान के साथ-साथ अतीत की उपलब्धियों पर भी दृष्टि डालनी पड़ेगी।

मूल्य-निर्धारण के प्रसंग में प्रयोगों का बड़ा महत्त्व है। सर्वमान्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिये पिछले अनुभवों के आधार पर सुसंचालित प्रयोग नए मानों और नई स्थापनाओं की सृष्टि करने में सफल हुए हैं! ऐसा बराबर हुआ है; और बराबर होता रहेगा। आरंभ में ही मैं निवेदन कर चुका हूँ कि आंदोलन से ही विचारों का निर्माण होता है। हाँ, एक बात की सतर्कता अपेक्षित है। वितंडावाद को प्रश्रय नहीं मिलना चाहिए। यदि साहित्य-स्रष्टा इस सत्य से मुँह मोड़ ले, तो वह आनेवाली पीढ़ियों को आलोक का दान न दे सकेगा।

यदि लोक-मंगल के पवित्र जल में अवगाहन कर नवीनता उतरती है;

तो प्रत्येक विचारशील व्यक्ति उसके सामने नत-मस्तक होगा। लोक-मंगल राष्ट्र-मंगल का अविकल अनुवाद है। हर उषा एक नवीनता लेकर आती है। कलाकार उसका सौंदर्य देखकर आत्मविभोर हो जाता है, और अपने कल्पना-पट पर उसका आलोक उतार लेता है। सर्जन की इस पवित्र-प्राणवंत वेला में कलाकार अपने ही देश की मिट्टी पर, अपने ही देश के आसमान के नीचे रहता है, और अपने ही देश के चरणों पर अपनी कला के फूल चढ़ाता है। स्वाभाविक होने के अतिरिक्त यही समर्याद और सुशोभन भी माना जायगा। यदि कोई इसे विसंगत कहे, तो मुझे सोचना पड़ेगा कि युगवाद प्रणम्य है अथवा देश की अंतरात्मा का चिर-सत्य; प्रचारात्मक आलोचना के परिधान में बेधड़क घुसनेवाली वणिक्-बुद्धि प्रणम्य है अथवा संस्कार-मूलक संकल्प।

साहित्य-सर्जन में अनुभूति का स्थान

चाहे जिस प्रकार का निर्माण हो, उसके लिये आधार की आवश्यकता होती ही है। आधार-रहित निर्माण की कल्पना भी असंभव है। साधारणतः अवलंब अथवा आश्रय ही को आधार कहते हैं। उसके मूल में कई तत्त्व होते हैं। ये विविध तत्त्व जब अपना पृथक् अस्तित्व खोकर एकाकार हो जाते हैं, तब निर्माण के उतरने की भूमिका तैयार होती है। अर्थात् तभी निर्माण का कार्य आरंभ होता और आगे बढ़ता हैं। आदि-नियामक ब्रह्मा को भी इन आधार-तत्त्वों की आवश्यकता पड़ी थी। जब तक इन तत्त्वों की उपलब्धि न हुई, तब तक सर्जनाआरंभ न हो सका। इन तत्त्वों के जानने-समझने के लिये ब्रह्मा को कई युगों तक कठोरातिकठोर साधना करनी पड़ी थी।

साहित्य-निर्माण के संबंध में भी यही बात लागू है। साहित्य भी एक संसार है। वह भावों का, विचारों का संसार है, और उसका महत्त्व इस स्थूल, दृश्य संसार से किसी प्रकार कम नहीं। सत्य तो यह

है कि साहित्य-संसार इस मरणशील स्थूल जगत् को प्रत्येक अवस्था में प्रभावित करता रहता है, जिसके कारण विचारों की आकृतियों के साथ-साथ कार्य-कलाप की पद्धतियाँ भी बदलती रहती हैं। युग पर युग का निर्माण होता है, अवस्थाएँ और स्थापनाएँ नव-नव रूप ग्रहण करती हैं, एवं समाज तथा जीवन को नई मान्यताएँ, नये स्तर और नये स्वर मिलते हैं।

साहित्य-निर्माण के आधार में जो अनेकानेक तत्त्व पाए जाते हैं, उनमें अनुभूति का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। यों तो प्रत्येक तत्त्व की अपनी विशिष्टता है। तुलनात्मक दृष्टि से हम इनमें से किसी को भी निम्न कोटि का नहीं कह सकते। मानव-शरीर के जितने अंग-अवयव हैं, उन सबका अलग-अलग महत्त्व है। सबके पूर्ण सहयोग ही में शरीर का सौष्ठव निहित है। यह कहना कठिन है कि आँखें अधिक महत्त्व-पूर्ण हैं या हाथ; नाक अधिक महत्त्व-पूर्ण है या मुख। यदि शरीर का एक भी अंग अथवा भाग भग्न हुआ, तो सम्पूर्ण शरीर दोष-युक्त हो जाता है। साहित्य-निर्माण के आधारगत तत्त्वों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। परंतु अनुभूति को अत्यंत महत्त्व-पूर्ण मानने का कारण यह है कि उसके द्वारा विचारों का संचालन होता है, और विचारों के लिपि-बद्ध रूप-भांडार ही को साहित्य की संज्ञा मिलती है।

अनुभव, परिज्ञान, उपलब्धि तथा समवेदना की एकरूपता को अनुभूति कहते हैं। किसी-न-किसी अर्थ में ये चारों अनुभूति के पर्याय-वाची हैं—एक विशिष्ट मनोदशा के संज्ञापक; मानस-आवेग से ओत-प्रोत जिनका स्वर अनुभूति की झंकारों में बार-बार बज उठता है। न्याय के अनुसार अनुभूति के चार भेद माने गए हैं; जैसे प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शब्द-बोध। जो वस्तु या दृश्य नयनगोचर है, आँखों के सामने है, स्पष्ट, सीधा और समीप है, उससे प्रत्यक्ष ज्ञान की उपलब्धि होती है। अनुमान, परामर्श, हेतु या तर्क से उत्पन्न ज्ञान को अनुमिति

कहते हैं। उपमा या सादृश्य से उत्पन्न ज्ञान उपमिति की संज्ञा पाता है। शब्दों को पढ़-सुनकर मनन-चिंतन के पश्चात् जिस ज्ञान का बोध हो, उसे शब्द-बोध कहा जाता है।

अनुभूति का यह पारिभाषिक विश्लेषण साहित्य को अमान्य नहीं है, प्रत्युत साहित्य-कला-मर्मज्ञ अनुभूति को साहित्य का प्राण और आत्मा मानते आए हैं। सामान्यतः गद्य-पद्य सब प्रकार के ग्रंथों के समूह का दूसरा नाम साहित्य है, जिसमें सार्वजनिक हित-संबंधी स्थायी विचार रक्षित रहते हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं, विचार ही साहित्य है। विचार और ज्ञान एक दूसरे के पूरक हैं, अन्योन्याश्रयी हैं। दोनों का कार्य-कारण-संबंध है। क्रौंच-पक्षी के वध से उत्तेजित महर्षि वाल्मीकि के विचार संगीत बनकर फूट पड़े। कालांतर में यह विचार-धारा ज्ञान के स्फुरण से अनुभूति बनी, और फिर संसारभर की, युग-युगों की अनुभूति बन गई। रामायण—जैसे सार्वजनिक मंगल-साहित्य के मूल में विचार और ज्ञान का यही सतत आंदोलन है; अनुभूति का यही चिरस्पर्श है, जिससे मन-मस्तिष्क की चेतनाएँ जागती हैं, अँगड़ाई लेती हैं, और वाणी की कृपा से अक्षर बन जाती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं, साहित्य-निर्माण के मूल में तात्त्विक दृष्टि से प्रवृत्तियाँ चाहें जितनी काम करती हों, परंतु उसकी प्रेरक शक्ति अनुभूति ही है। इसीलिये अनुभूति को साहित्य की आत्मा मानते हैं। संपूर्ण भारतीय साहित्य इसका प्रमाण है। संसार का प्राचीनतम ग्रंथ, ऋग्वेद, अनुभूतियों का भांडार है। भारतीय आर्य प्रकृत्या भावुक और प्रकृति-प्रेमी थे। उनका हृदय कृतज्ञता के पुलक से आनंद-विह्वल था। इस देश की सुदूर तक फैली हुई सजला, सुफला भूमि ने अपनी वैभव-भरी वन-वीथियों और हरियालियों के अमृत-प्रभाव ने उनके मन-प्राणों को आंदोलित किया। इस सौभाग्य-समन्वित भू-खंड के प्रत्येक कण में आर्यों ने सौंदर्य की अमूर्त अभिव्यक्ति का अनुभव किया; तृण-तृण में,

तिनके-तिनके में भविष्य की अपार संभाव्यताओं को निमंत्रण देते हुए पाया; पत्र-पल्लव की प्रत्येक मर्मर-ध्वनि में आत्मा की पुकार सुनी, और उन्होंने मंत्र-मुग्ध होकर प्रकृति से तादात्म्य स्थापित किया। उनके मन की यही गहन अनुभूति कहीं आशा बनी, कहीं विश्वास, कहीं आनंद की नूपुर-ध्वनि बनी, कहीं उल्लास का उन्मुक्त नृत्य, कहीं अंतश्चेतना के प्रांजल विकास की वाणी बनी, कहीं वाणी के मर्म का मनोमुग्धकारी पराग; कहीं इस पराग की आग; कहीं इस आग के भीतर बसनेवाला अमर-अनुराग। आर्यों ने पहली बार, इसी पवित्र भू-खंड पर, बाह्य विश्व के आलोकमय दर्पण में अपने हृदय और मस्तिष्क के संपूर्ण सौंदर्य को प्रतिबिंबित पाया, और बाह्य विश्व के समस्त वैभव को अपनी संगीत-मयी साँसों पर थिरकते हुए देख-इस अनुभूति से उस साहित्य का आविर्भाव हुआ, जिसके समकक्ष स्थान पानेवाला साहित्य संसार के किसी भाग में नहीं पाया जाता। इसी अनुभूति से प्रेरणा पाकर मनुष्य ने सर्वप्रथम, अपने मन के अनुरूप, देवता और देवत्वका निर्माण किया। सुप्रसिद्ध दार्शनिक डा० राधाकृष्णन् के मतानुसार मानव-मस्तिष्क की ऐसी देन, मानव-हृदय की अनुभूतियों का ऐसा कृतित्व अन्यत्र देखने को नहीं मिलता।

स्पष्ट है, मानव-मन की अनुभूतियाँ ही अभिव्यक्ति का रूप धारण करती हैं। तब साहित्य-कला का निर्माण होता है। नृत्य-कला और संगीत-कला के मूल में भी यही तथ्य है। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि साहित्य तथा कला में सौंदर्य, आनंद एवं उल्लास के अतिरिक्त किसी अन्य रागात्मिका वृत्ति की अभिव्यंजना की गुंजाइश नहीं है। सत्य तो यह है कि दुःख और पीड़ा की अभिव्यक्ति के भी दो पक्ष होते हैं। एक है उसका कलापक्ष, यथार्थ और आदर्श। दूसरा है उसका आध्यात्मिक पक्ष। उत्कृष्टता की दृष्टि से दोनो में आत्मा का प्रतिबिंबन अपेक्षित है। प्रतिकूल परिस्थितियों के प्रतिबिंबन में भी आत्मा के सौंदर्य का दर्शन

कराया जा सकता है। यथार्थ तो यही है कि मनुष्यात्मा को कोई विकार छू ही नहीं सकता। दुःख में, सुख में आत्मा एक ही तरह रहती है। आत्मा के इसी रूप के प्रतिबिंबन को हम उसका सौंदर्य कहेंगे। परंतु आध्यात्मिक पक्ष में आत्मा की पवित्रता अभिव्यक्त होती है। दुःख और पीड़ा का कलात्मक मूल्य अभिव्यक्ति की उत्कृष्टता में निहित नहीं है। परंतु जब यह अभिव्यक्ति आत्मा के सौंदर्य और पवित्रता की प्रकाश-किरणों के उतरने की भूमिका बन जाती है, तभी दुःख और पीड़ा का सच्चा कलात्मक मूल्यांकन हो सकता है। कलात्मक-अभिव्यक्ति की अनुभूति से प्रेम, सहानुभूति, करुणा आदि हृदय की कोमल वृत्तियाँ जागती हैं, और उनके स्पर्श से हृदय की संकीर्णता मिट जाती है। फिर जिस वातावरण का निर्माण होता है, उसमें सभी एक सूत्र में बँधे दिखाई देते हैं।

साहित्य में, विशेषकर काव्य और नाटक में, रस को प्रमुख स्थान दिया जाता है। सामान्यतः प्रेम, हास्य और शोकादि मनोविकारों के जो कार्य और सहकारी कारण होते हैं, वे नाटक और काव्य में, रति, हास्य, शोकादि भावों के कारण, कार्य और सहकारी कारण न कहे जाकर क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं। इनसे परिपुष्ट होकर जो स्थायी भाव व्यक्त होता है, वही रस है। साहित्याचार्य ने ब्रह्मानंद को रस के रसत्व का मूल तत्त्व माना है। इस मान्यता के आधार में भी अनुभूति ही है।

पारिवारिक जीवन के आरंभ में रस का अर्थ स्वाद ही माना जाता था। जैसे कटु, तिक्त, मधुर इत्यादि। कालांतर में मानव-चेतना जब पर्याप्त रूप से उभर आई, और विचार निखर गए, जब मनुष्य कायिक स्वाद का दास-मात्र नहीं रहा, तब इसके अर्थ में परिवर्तन हुआ, क्योंकि मनुष्य, धीरे-धीरे, शरीर संबंधों के अतिरिक्त अन्य पारिवारिक सुखों में संतोष और माधुर्य का अनुभव करने लगा। कुछ समय बाद, जब मनुष्य सामान्य जीवन-स्तर के ऊपर उठकर कला के नगर में विचरने लगा और

कला के सौंदर्य-दर्शन से आनंदित-पुलकित होने लगा, तब रस के अर्थ में फिर परिवर्तन हुआ। वह मात्र संतोष का पर्यायवाची न रह सका, जिस प्रकार वसंत-ऋतु में वृक्ष-पादप नव-नव सुरभित परिधान धारण कर लेते और नूतन आनंद की सृष्टि करते हैं। परिवर्तन का यह क्रम चलता रहा। दिन-प्रतिदिन मानव-अनुभूति अधिक-से-अधिक गहरी होती गई, और वह समय आया, जब अनुभूति ने रस को ब्रह्मानंद-सहोदर मान लिया।

इस प्रकार हम देखते हैं, भारतीय साहित्य की प्रवृत्तियाँ बाह्य-विश्व से अन्तर्जगत की ओर उन्मुख हुईं, और भावाभिव्यक्ति बाह्य अलंकरण के ऊपर उठकर आत्मा और प्राण की वाणी बन गई। साहित्य-शास्त्र ने रसानुभूति के माध्यम से एवं आध्यात्मवाद ने आत्मा के दर्शन-निदर्शन के माध्यम से एक ही सत्य का प्रतिपादन किया। "रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति" शंकराचार्य के अनुसार, कलाकार क्रांतदर्शी होता है। वह सर्जन की घड़ियों में जब शाश्वत जीवन, शाश्वत सौंदर्य और शाश्वत सत्य के स्पर्श का अनुभव करता और अनुभूति के कणों को लिपि-बद्ध करता है, तब स्थायी साहित्य का जन्म होता है। एकमात्र भारतीय साहित्य ही में हम अनुभूति की उन प्रकाश-किरणों को देखते हैं, जो प्रेम और भक्ति के बीच स्वर्ण-श्रृङ्खला की भाँति चमक रही हैं।

कला और सौंदर्य-संबंधी भारतीय स्थापनाएँ अलंकार-शास्त्र और साहित्य-शास्त्र में संगुफित हैं। ये दोनों संज्ञाएँ सारगर्भित हैं। एक का अर्थ है सौंदर्य की सुंदर अभिव्यक्ति। दूसरी संज्ञा का अर्थ है कि सौंदर्य-बोध अथवा सौंदर्य की अभिव्यक्ति ही आत्मा की चिरसंगिनी है। एकमात्र काव्यात्मक शब्दार्थ ही को साहित्य नहीं कहते; मात्र स्वर और भाव का संगीतात्मक समन्वय भी साहित्य नहीं है। चित्र-कला में विचारों और रंगों का मात्र एकीकरण भी साहित्य नहीं है। इसी प्रकार मूर्तिकला-गत सौंदर्य और विराम की संधि एवं गृह-निर्माण-कला-गत

सौंदर्य और विस्तीर्णता का संयोग-मात्र साहित्य नहीं कहा जा सकता। काव्यात्मक शब्दार्थ-गौरव, स्वर और भाव की संगीतात्मक एकलयता, विचारों और रंगों का एकीकरण, सौंदर्य और विराम की सन्धि सौंदर्य और विस्तीर्णता के संयोग के साथ-साथ साहित्य अनिवार्यतः सौंदर्य और अनुभूति की झंकार भी है। यह सौंदर्य कला का सौंदर्य होता है, और यह अनुभूति आध्यात्मिक आनंद की अनुभूति होती है।

मानव-मन की उत्कंपित अनल-शिखाएँ प्रकाश के स्वर्णांचल को छूने के लिये ऊपर उठती हैं। इसी प्रकार जाग्रत मनुष्य के आलिंगन के हेतु प्रकाश, अपनी संध्याओं और उषाओं के साथ, नीचे झुकता है। इन दोनों के बीच एक पवित्र संगम मुस्किराता रहता है, जिसकी अनुभूति मानव के अस्तित्व और जीव की विजय की द्योतक है।

साहित्यकार—उसका रूप और संबल

कलाकार के जीवन में आत्मविश्वास का विचित्र स्थान होता है। उत्प्रेरक शक्तियों से पूर्ण यह गुण तीन प्रकार से कलाकार के जीवन को प्रभावित करता है। इसीका संकेत पाकर कलाकार अपने कार्य-क्षेत्र में उतरता है, क्रियाशील होता है; इसी के सहारे भिन्न-भिन्न परिस्थितियों को पार करता हुआ ऊपर उठता और इसी के आलोक को अपनी आत्मा की वाणी बना कर युग-युग तक जीवित रहता है। सामान्यतः हर क्रियाशील व्यक्तित्व इसके अंगार से धुल कर निखरता है। परंतु कलाकार प्रव्यंजना के पथ का पथिक होता है, और प्रव्यंजना स्वयं ही एक कला है, विचारों और भावनाओं की दीपिका है, इसलिये उसका व्यक्तित्व आत्मविश्वास से न केवल तेज की तरलता पाता है, प्रत्युत वह उसी का शब्दकार, स्वरकार एवं मूर्त्तिकार बन जाता है।

जिसे हम सच्चाई कहते हैं, वह आकाश की तरह ऊँची, आग की तरह शुद्ध एवं गंगा-जल की भाँति निर्मल और साथ ही चट्टान की भाँति निर्मम तथा व्रज के समान कठोर भी होती है। लौकिक जीवन में घृण्य,

घृणास्पद, अवांछनीय एवं अशुभ का अस्तित्व न अमान्य हुआ है, न हो सकता है। सचाई अपने दर्पण में इन वस्तुओं को भी देखती और अपनी पलकों की गीली छाँह में इन्हें भी स्थान देती है। उसकी यही आर्द्रता पवित्रता के नाम से पुकारी जाती है। सचाई और पवित्रता आत्मविश्वास की दो आँखें हैं; कलाकार के पथ पर अनवरत प्रकाश फेंकनेवाली दो रश्मियाँ हैं। सचाई कलाकार को प्रेरणा देती है, पवित्रता उसके मानस-आवेग को उन्माद-ग्रस्त होने से रोकती है। दोनों एक-दूसरे की पूरक हैं, और दोनों के पारस्परिक सहयोग से ही कलाकार की साधना पूरी होती है।

जब तक साहित्यकार अपने को एक ही रूप में देखता और अपना एक ही रूप मानता है, तब तक वह सचाई और पवित्रता, दोनों में से किसी का साथ नहीं छोड़ता। जब वह अपने को दो या दो से अधिक रूपों में विभक्त कर देता है, तब सचाई और पवित्रता से उसका संबंध तो छूट ही जाता है, उसका आत्मविश्वास भी डोलने लगता है। आज के साहित्यकार के दो रूप देखने को मिलते हैं—वह एक व्यक्ति है; वह एक साहित्यकार है। दोनों रूपों में उसका संबंध समाज और समूह से है। परंतु व्यक्ति के रूप में वह समाज अथवा समूह का कम है, अपने परिवार का अधिक। पारिवारिक जीवन परंपरा में रहता है, और परंपरा पारिवारिक जीवन में रहती है। यहाँ तक आधुनिक साहित्यकार परंपरावादी है। इस सीमा को छोड़ कर जब वह समाज अथवा समूह के सामने आता है, तो परंपराओं को रूढ़ि का पर्याय मान कर रौंदने लगता है, और नवीन स्थापनाओं की ओट में ऐसे वातावरण की सृष्टि करता है, जिसमें मर्यादा नाम की कोई चीज़ मिलती ही नहीं। इस प्रकार उसका यथार्थवाद दूसरों के लिए होता है, अपने लिये नहीं। अपनी रचनाओं में वह जिस सचाई को उतारने का नाटक करता है, वह नाटक-भर रह जाता है।

यदि कोई मुझ से इसका कारण पूछे, तो मैं यही कहूँगा कि आधुनिक साहित्यकार अपनी रचनाओं में आए हुए चित्रों के माध्यम से दूसरों की इच्छाओं की ही पूर्त्ति करता है। इसीलिये न तो वह सच्चाई को ठीक-ठीक आँक सकता है, न पवित्रता को ही प्रश्रय देता है। यदि वह अपने इन चित्रों तथा दूसरों के रस-लोलुप मन की स्थिति को विवेक की आँखों से देख ले, तो मुझे कोई संदेह नहीं कि वह उन लोगों को प्रतिक्रियावादी न कहेगा, जो प्रत्येक साहित्यिक कृति के मूल में किसी आदर्श को देखना चाहते हैं। मनुष्य अथवा संसार को कैसा होना चाहिये, यह आदर्शवाद माना जा सकता है, परंतु मनुष्य अथवा संसार को साहित्यकार किस दृष्टिसे देखे, यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसका महत्त्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

उपन्यासों, कहानियों तथा कविताओं में असंतुलन के क्षणों का वर्णन अपराध नहीं माना जायगा। परंतु ऐसे क्षणों का असंतुलित वर्णन निश्चय ही चिंता का विषय बन जाता है। ऐसे लेखक बहुधा यह कह देते हैं कि उन्होंने सच्ची बात को ज्यों-का-त्यों उतार दिया है। कभी-कभी यह भी कहते हैं कि अमुक कथन या भाव पुस्तक के अमुक पात्र का है। परंतु मुझे ऐसा लगता है कि इस उत्तर में उनकी हीनता ही बोलती है। हर रचना में रचनाकार का व्यक्तित्व दिखाई देता है। यदि यह सत्य है कि रचना शरीर है, और रचयिता उसमें प्राण बनकर विद्यमान रहता है, तो मैं यह नहीं मानूँगा कि सारी सीमाओं को तोड़कर निर्बंध रूप से बहनेवाला हर साहित्यिक कुरुचि-पूर्ण होता है। शरीर में अथवा शरीर के बाहर, मन में अथवा मन के बाहर माँस के उपद्रव से ही असंतुलन की स्थिति पैदा होती है। परंतु साहित्यकार सामान्यजन से अधिक बुद्धिमान होता है। किसी भी चित्य परिस्थिति के सामने आने पर, आत्मविश्वास को साथ लेकर चलनेवाला लेखक उससे होकर ऊपर उठने की चेष्टा करेगा, क्योंकि वह किसी भी

अवांछनीय वस्तु को उसी रूप में देखना पसंद नहीं कर सकता। परंतु जब वह ऐसी वस्तु अथवा परिस्थिति के वर्णन में रम जाता है, तल्लीन हो जाता है, तब निश्चय ही यह नहीं सोचता कि उसका एक ही रूप है, जो अविभाज्य है। यदि वह कहीं भी, किसी भी रूप में मर्यादा के भीतर रहता है, तो साहित्य-निर्माण की घड़ियों में भी उसका यही रूप रहेगा। इस सिद्धांत की अवहेलना साहित्य की सबसे बड़ी दुर्घटना मानी जायगी।

इस प्रसंग में दो प्रश्न मेरे सामने आते हैं—साहित्य का क्या होगा, साहित्यकार का क्या होगा? भविष्य-निर्माण की पृष्ठभूमि में मैं दूसरे प्रश्न को अधिक महत्त्व देता हूँ। यदि किसी डाकू या लुटेरे के हाथ में भरी हुई पिस्तौल दे दी जाय, तो सहज ही परिणाम की कल्पना की जा सकती है। पिस्तौल में भरी हुई गोलियाँ पिस्तौल को उतना खतरनाक नहीं बनातीं, जितना उसे काम में लानेवाले व्यक्ति की मनोवृत्ति। साहित्यकार ही व्यक्ति और समाज की मनोवृत्ति के सुधार का साधन प्रस्तुत करता है। इसलिये साहित्य के पुनर्निर्माण की अपेक्षा साहित्यकार के पुनर्निमाण की आवश्यकता अधिक है और यह कार्य आत्मविश्वास के आधार पर ही हो सकता है।

कुछ लोगों के विचार में युग की संज्ञा पर राजनीति के छा जाने से जो परिस्थिति उत्पन्न होती है, उसमें साहित्यिक सामान्य जन की भाँति ही, अपना नैतिक स्तर सँभाल नहीं पाता, और एक ऐसा वाद्य-यंत्र बन जाता है, जिसे छूकर कोई भी हवा मनचाही आवाज निकाल सकती है। राजनीति के ब्रह्मानंद की व्याख्या यहाँ अपेक्षित नहीं। यह भी कहा जाता है, जिस परिस्थिति से हमारा देश गुजर रहा है उसमें स्थायी साहित्य का निर्माण नहीं हो सकता। जब देश के सामने अगणित समस्याएँ रौरव की भाँति मुँह बाए खड़ी हों, और चारों ओर भाँति-भाँति के अधिकारों के लिये युद्ध छिड़ा हो, तब मनन-चिंतन कौन

करता है ? ऐसी परिस्थिति में प्रचारात्मक साहित्य की ही रचना होती है। संभव है, इस कथन के आधार में सत्य का कुछ अंश हो। परंतु मैंने जिस आत्मविश्वास का उल्लेख किया है, उसके अस्तित्त्व तथा प्रभाव का प्रमाण ऐसी ही परिस्थिति में मिलता हैं। ऐसी ही परिस्थिति में देश और समाज को अराजकता से बचाने एवं वातावरण को पवित्र बनाए रखने के लिये उचित नेतृत्व की आवश्यकता होती है, और उचित नेतृत्व का निर्माण मनन एवं चिंतन के आधार पर ही संभव है। सर्जनात्मक शक्ति का ह्रास संक्रमण-कालीन अस्तव्यस्तता से नहीं होता। वस्तुतः यह ह्रास कला के पतन और कलाकार की हीनता का ही परिणाम होता है।

यहाँ यह कह दू कि मैं राजनीति को अपराध नहीं मानता। मेरी यह धारणा है, राष्ट्रीयता से साहित्यिक चेतना को बल मिलता है, जिसके पुंजीभूत प्रकाश से नव निर्माण की मंगलमयी किरणों का आविर्भाव होता है। साहित्य-निर्माता की राष्ट्रीयता देश के अतीत गौरव से प्रेरणा लेकर वर्तमान की अग्नि-शिखा को सँवारती है, और उसके भविष्य के अरुणोदय की लालिमा बनकर अंधकार को चुनौती देती है। साहित्यकार की राष्ट्रीयता न राजनीति की अनुगामिनी बन सकती है, न काल और सीमा की बंदिनी। उसका रूप और लक्ष्य एक होता है, उसकी धारा एक होती है। वह प्राण-वायु बनकर उतरती और प्राण-शक्ति बनकर जीवित रहती है। आत्मविश्वास उसका पोषक द्रव्य होता है। अपने पैरों पर खड़ा रहनेवाला साहित्य ही अमर होता है। परमुखापेक्षी साहित्य उस मरुभूमि का रूप धारण कर लेता है, जिसमें प्रस्तार-विस्तार तो होता है, किंतु जीवन के अवधारक तत्त्व नहीं मिलते।

यह अणु-बम और उद्जन-बम का युग है। आज का मनुष्य आणविक शक्तियों का संहारक रूप ही देख सका है, क्योंकि अपनी बौद्धिक परंपरा को तोड़कर वह जिस विचार-बिंदु पर अवस्थित है, वहाँ से भविष्य के मानव की उज्ज्वल संभावनाओं को देखने में

अक्षम है। उसकी अपनी मनःस्थिति भी उसके विवेक और चेतना को प्रतिकूल दिशा में ही चलने को प्रेरित कर रही है। इस परिस्थिति में एकमात्र साहित्य और साहित्यकार से ही कल्याण की आशा की जा सकती है। अतएव साहित्यकारों का यह कर्त्तव्य है कि वे उस साहित्य का निर्माण करें, जिसकी सुरक्षा के लिये जनता अणु-बमों और उद्जन-बमों की गड़गड़ाहट के बीच, अग्नि की लपकती हुई विशाल लपटों की अवहेलना कर, घर-द्वार, जगह-ज़मीन, मंदिर-देवालय, सब कुछ छोड़कर, दौड़ पड़े। इसी साहित्य की आलोक-किरणों से विश्व के ध्वंसावशेष पर बैठे हुए नए मनु को आगे बढ़ने की प्रेरणा मिलेगी।

वाणी का स्पर्श और साहित्य का मानव-पक्ष

उपन्यासों, कहानियों, नाटकों तथा काव्य-ग्रंथों में हम जो कुछ पढ़ते हैं, उसका संबंध घटना-विशेष अथवा इतिहास के पृष्ठों से हो सकता है, नहीं भी हो सकता। परंतु प्रत्येक अवस्था में उसमें एक व्यक्तित्व बोलता रहता है। ग्रंथ में आए हुए विविध पात्रों के स्वर में पाठक इसी व्यक्तित्व का स्वर सुनता है, वह इसी व्यक्तित्व के साथ कल्पनाओं, विचारों और भावनाओं के संसार में घूमता है, वह इसी व्यक्तित्व की अनुभूतियों की गहराई में पैठता है, और वहाँ जो द्रव्य-संचय करता है, उसके आधार पर आदर्श, मान और मूल्य का निर्धारण करता है। इस व्यक्तित्व को मैं ग्रंथकार का व्यक्तित्व कहता हूँ। इसके मूल में ग्रंथकार की आत्माभिव्यक्ति ही परिलक्षित होती हैं, इसलिये मैं यह मानता हूँ कि आत्माभिव्यक्ति की घड़ियों में ही साहित्य का निर्माण होता है।

मनुष्य भी एक पशु है, परंतु वह पशु से इसलिये भिन्न होता है कि

उसे आत्मा मिली है, विवेक मिला है। विवेक के प्रकाश में वह अपनी आत्मा को पहचानता है, और तब यह अनुभव करता है कि वह किसी अनंत सत्ता का, किसी शाश्वत शक्ति का एक अंश है। इस अनुभूति से प्रेरणा पाकर वह अपने पूर्णत्व को प्राप्त करने के लिये सचेष्ट होता है। जाग्रत् चेतना का यह सातत्य उसके मन-प्राणों में जो उत्कंठा उत्पन्न करता है, वही मनुष्य को कर्त्तव्य-पथ पर खींचती है। यही उत्कंठा वाणी के स्पर्श से विविध रूपों में व्यक्त होकर साहित्य की श्री बन जाती है।

साहित्य-निर्माण के मूल में बसनेवाले इस विश्वास के दो रूप होते हैं साधक के रूप में यह विश्वास साधना के पथ से जीवन को तिमिर से ज्योति की ओर ले चलता है, और बाधक के रूप में नैसर्गिक पाशविक वृत्तियों के उफान को दबाता है। साहित्यकार की आत्माभिव्यक्ति में हम इन दोनो क्रियाओं को पाते हैं। लोक-मंगल और लोक-मर्यादा इन्हीं क्रियाओं के दो नाम हैं, जिनसे साहित्य के प्रयोजन का स्पष्टीकरण अपने आप हो जाता है।

लोक-मंगल के लिये लोक-मर्यादा की रक्षा अनिवार्य एवं अपरिहार्य है। यहीं औचित्य और अनौचित्य की सीमा बन जाती है। नैसर्गिक पाशविक प्रवृत्तियाँ अनेक होती हैं। यदि साहित्यकार की आत्माभिव्यक्ति में सबको प्रश्रय मिले, तो न केवल जीवन का नैतिक पक्ष दब जायगा, प्रत्युत एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होगी, जिसमें न आत्मा की सत्ता मान्य होगी, न जीवन के शाश्वत मूल्यों में आस्था रहेगी। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि आत्माभिव्यक्ति आत्मदमन का पर्याय है। तुलसी की 'विनय-पत्रिका' कवि के आत्मनिवेदन की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक मानी जा सकती है। इसमें ग्रंथकार ने अपने मन की भावनाओं को अविकल रूप में रक्खा है; अपने अपराधों, पापों, चिन्ताओं, आशंकाओं, सबका खुलकर वर्णन किया है। कुछ नहीं छिपाया है।

कबहुँ जोग-रत, भोग-निरत सठ हठ वियोग-बस होई;
कहहुँ मोह-बस द्रोह करत बहु, कबहुँ दया अति सोई।

अथवा—

लोभ-मोह-मद-काम-क्रोध-रिपु फिरत रैनि-दिन घेरे।

अथवा—

अस्थि पुरातन छुधित स्वान अति ज्यों भरि मुख पकरैं;
निज तालू-गत रुधिर पान करि मन संतोष धरैं।

अथवा—

माधव! मो-समान जग माहीं—
सब विधि हीन, मलीन, दीन अति, लीन-विषय कोउ नाहीं।

आदि अनेक पंक्तियाँ 'विनय-पत्रिका' में मिलती हैं, जिनसे प्रमाणित होता है कि तुलसीदास ने अपने मन की बातों को बड़ी सच्चाई और ईमानदारी से व्यक्त किया है। फिर भी उनकी आत्माभिव्यक्ति का नैतिक पक्ष ऊँचा ही रहा है। लोक-मंगलकारी कलाकार ने इसी आदर्श को सदैव अपनाया है।

आत्माभिव्यक्ति की यह परंपरा न केवल भारत में, प्रत्युत संसार के अन्य देशों में भी मान्यता पा चुकी थी। इसी समय पाश्चात्त्य सभ्यता ने एक नई विचार-धारा को जन्म दिया, और नए मूल्यों एवं नई स्थापनाओं के कुछ ऐसे प्रवर्तक प्रादुर्भूत हुए, जिनकी दृष्टि में धर्म प्रपंच था, नैतिकता आडंबर थी, और ईश्वर मनुष्य की अपनी दुर्बलता का प्रतीक था। पूर्व-परंपरा को इन विचारों ने अंध-विश्वास की घृणा-मूलक संज्ञा दी, और सिद्धांत प्रतिपादित किया कि मस्तिष्क को स्वस्थ एवं क्रियाशील रखने के लिये नैसर्गिक पाशविक प्रवृत्तियों की निर्बंध प्रव्यंजना अत्यावश्यक है। उनके अनुसार इन प्रवृत्तियों के स्फुरणात्मक प्रभाव से जीवन का स्तर ऊँचा होता है। इस नई धारा ने बदलते हुए

युग के विद्रोहात्मक स्वर का संबल पाकर संसार के प्रायः हर देश को प्रभावित कर लिया। साहित्य में वृषभ-नीति के प्रचार को इसी से प्रोत्साहन मिलता रहा है। तुलसीदास ने जहाँ "मो-समान लीन-विषय कोउ नाहीं" कहकर सब कुछ कह दिया, वहाँ आज का लेखक ५०० पृष्ठों का उपन्यास लिखता है, जिसमें आदि से अंत तक इसी वृषभ-नीति की आकर्षक चर्चा रहती है।

प्रश्न है, क्या यही आत्माभिव्यक्ति का अर्थ है ? वासना-मूलक नैसर्गिक प्रवृत्ति के अतिरिक्त अन्य पाशविक प्रवृत्तियाँ भी होती हैं। उनकी अभिव्यक्ति और सराहना क्यों नहीं की जाती ? गंदगी में रहना खाद्य-कुखाद्य-अखाद्य का विचार न करना भी पाशविक प्रवृत्तियाँ हैं। फिर इनका व्यापक प्रचार क्यों नहीं किया जाता ? भय भी एक नैसर्गिक पाशविक प्रवृत्ति है, इसलिये सर्वत्र "अवश्य डरो" आंदोलन क्यों नहीं चलाया जाता ?

मुझे तो ऐसा लगता है कि आत्माभिव्यक्ति के इस नए सिद्धांत के आधार में झूठे तर्क और भ्रामक धारणाएँ ही हैं, जिनका मनुष्य के मानव-पक्ष से कोई संबंध नहीं। हर वस्तु का एक विशेष स्वभाव, एक विशेष प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार मनुष्य का भी एक स्वभाव होता है, और पशु की भी एक प्रवृत्ति होती है। दोनो में समान रूप से कतिपय नैसर्गिक पाशविक प्रवृत्तियों के रहते हुए भी दोनो एक दूसरे से भिन्न हैं। इसलिये दोनो की आत्माभिव्यक्ति अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार होनी चाहिए। मनुष्य को आत्मा और विवेक प्राप्त है, इसलिये उसकी सफल आत्माभिव्यक्ति तभी होती है, जब वह मानव-पक्ष को लेकर चलता है; जब उसकी वाणी में आत्मा और विवेक, दोनो बोलते हैं। आत्मा उसे प्रकाश देती है, और विवेक वांछनीय एवं अवांछनीय का बोध कराता है। इसके विपरीत जब मनुष्य जीवन का पशु-पक्ष लेकर लेकर चलता है, तब उसकी हड्डियाँ गरजती हैं, उसकी देह चिल्लाती है,

उसका माँस कोलाहल करता है। इस तुमुल नाद में वह मन की शांति खो देता है, और उसकी अचेतन भावनाएँ उफनाने लगती हैं। वह भीतर का रास्ता भूलकर बाहर की विषैली चिनगारियों का बंदी बन जाता है। वह अपनी वासनाओं को तृप्त करना चाहता है, परंतु उसकी प्यास बढ़ती ही जाती है। वह अपनी ही आग में गलकर भस्मावशेष-भर रह जाता है। हाड़-मांस के इस भस्मावशेष को आत्माभिव्यक्ति नहीं माना जा सकता।

सच्ची आत्माभिव्यक्ति आत्मशुद्धि से निकलकर पहले आत्मा की परिपूर्णता की ओर बढ़ती है। फिर इस गति की अनुभूति से विह्वल होकर वह अपने रूप को वस्तु-परक बनाती है। इसी का नाम संस्कृति है। जीवन के बाह्य तत्त्व—शरीर, मांस, अस्थि—जब प्रबल हो जाते हैं, तब मनुष्य अंतर्मुखी चेतना की पुकार नहीं सुन पाता, जिसके कारण संस्कृति का ह्रास होने लगता और मानसिक दासत्व की उत्पत्ति होती है। इस मानसिक अवस्था की यह विशेषता होती है कि वह बाहर से नहीं लादी जाती, अपितु इसे मनुष्य स्वेच्छा से अपनाता है। आज की विश्वव्यापी अशांति के मूल में यही मानसिक दासत्व परिलक्षित होता है। वर्त्तमान साहित्य के घट में, वह अमृत शेष नहीं रह पाया है, जिसे हम 'रामचरित मानस' का प्राण कहते हैं। पाशविक प्रवृत्तियों का उपासक, नाश की घड़ियों में, सभ्यता और संस्कृति के जलयान को खेकर तीर तक नहीं पहुँचा सकता।

साहित्य में स्मरोद्दीपन का निरंकुश प्रचार

वर्तमान हिंदी-साहित्य में रति-भाव-दर्शन की विशद चर्चा होने लगी है। इन चर्चाओं पर स्पष्टतः फ्रायड का प्रबल प्रभाव परिलक्षित होता है। मुझे ऐसा लगता है कि स्मरोद्दीपन के निरंकुश विवेचन, प्रचार एवं प्रसार के लिये समस्त सीमाओं को लाँघकर अबाधगति से आगे बढ़नेवाली आधुनिक यन्त्र-युगीन सभ्यता के मदांध वातावरण को छोड़कर अन्य उपयुक्त अवसर नहीं मिल सकता था। साहित्यकारों की इस मनोवृत्ति के मूल में मैं निम्नांकित चार बातें पाता हूँ—

१. जीवन के प्रयोजन में अविश्वास

२. अपने उत्तरदायित्व के प्रति साहित्यकार की उदासीनता

३. अमरत्व की अवहेलना एवं मृत्यु का भय

४. मनुष्य और पशु का समीकरण

साहित्य में श्लीलता और अश्लीलता का प्रश्न एक जटिल प्रश्न माना जाता रहा है, और प्रत्येक भाषा-साहित्य के विद्वानों ने इस पर

अपने विचार प्रकट किए हैं। इन विचारों की चर्चा मेरा मंतव्य नहीं। विश्लेषण द्वारा मैं यही दिखलाने की चेष्टा करूँगा कि रति-भाव-दर्शन की दुर्दम उत्कंठा परिस्थिति-विशेष में ही उत्पन्न होती है, जो अकारण नहीं है।

असामान्यतः आज की अपेक्षा अधिक सुश्रृङ्खल एवं संतुलित सभ्यता में फ्रायड को लोक-प्रियता नहीं प्राप्त हो सकती थी। यह कहना कठिन है कि अँगरेजी के एलिजबेथ-युग में फ्रायड के पाठक और समर्थक मिलते या नहीं। परंतु हिंदी के 'रासो' युग में भी इसके सिद्धांतों को प्रोत्साहन प्राप्त होता, इसमें संदेह नहीं। जहाँ तक मनोवृत्ति और मानसिक धरातल का प्रश्न है, मैं बेधड़क निवेदन कर दूँ कि वीर-श्रृङ्गार-कालीन स्थिति और आज की स्थिति में विशेष अंतर नहीं है।

मनोविज्ञान का यह सिद्धांत है कि स्थिति-विशेष में मनुष्य जीवन के प्रयोजन को भूलकर निःस्व हो जाता है। ऐसी स्थिति बहुधा तभी उत्पन्न होती है, जब मनुष्य अपनी स्वतंत्रता खोकर परमुखापेक्षी बन जाता है। जीभ हिले, तो काट ली जाय; पैर आगे बढ़ें, तो कुचल दिए जायँ; रात-दिन साँसत में प्राण पड़े रहें। मन और मस्तिष्क पर इस आतंक का भयानक प्रभाव पड़ता है, जिसके कारण जीवन-भार सँभालनेवाली नैतिक और चारित्रिक भीत डोल जाती है। 'ऋतंवरा' की चार पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

हिय डोला, तो वही निराशा,
वही खेद है, पीर है;
हिय रोया, तो वही हार का
वातावरण अधीर है।

दैहिक पराभव की अपेक्षा मानसिक पराभव अधिक घातक होता है, क्योंकि उसका एक ही परिणाम होता है, मनुष्य का नैतिक और सांस्कृतिक ह्रास। यह वह अवस्था है, जब ईश्वर की शक्तियों में अविश्वास उत्पन्न

होता है। इस अविश्वास के अंधकार में मनुष्य अपने जीवन को व्यर्थ, निष्प्रयोजन समझने लगता है, और मन के भीतर की रिक्तता को भरने के लिए क्षणिक कल्पना-चित्रों का निर्माण करता है, तथा अपनी उफनाती हुई इच्छाओं की अग्नि-शिखाओं से उन चित्रों का अलंकरण और शृङ्गार करता है। कभी-कभी वह किसी दूसरे व्यक्ति के अस्थि-मांस को ही उपास्य मान बैठता है। सामंतवाद के युग में पराभव-मूलक मनोवृत्ति रति-भाव-दर्शन की पोषिका थी। आधुनिक युग में बुद्धिवाद जीव-शास्त्र के सिद्धांतों का सहारा ले इसकी पुष्टि करता है। इस विचार-धारा के अनुसार स्मरोद्दीपन तृप्ति का साधनमात्र है, संहारक प्रवृत्ति नहीं। यह शास्त्रीय निर्णय मात्र तर्क नहीं है; एक छूट है, जिसके बल पर स्मरोद्दीपन की मूर्त्ति-पूजा ईश्वर-पूजा का स्थान ले बैठी है, और वैयक्तिक दिनचर्या का आवश्यक अंग बन गई है।

मनुष्य के सामाजिक जीव होने के कारण उसके कतिपय दायित्व होते हैं। साहित्यकार और कलाकार साधारण मनुष्य से भिन्न होते हैं। समाज के भीतर तथा समाज-निर्माण-कार्य में उनका विशिष्ट स्थान और महत्त्व माना जाता है। अतएव उनका उत्तरदायित्व भी गुरुतर होता है। जब साधारण मनुष्य अपने उत्तरदायित्व को भूल जाता है, तब समाज की शांति भंग हो जाती और सर्वत्र अव्यवस्था फैल जाती है। परंतु जब साहित्यकार और कलाकार अपने उत्तरदायित्व की अवहेलना करते हैं, तब जो परिस्थिति उत्पन्न होती है, उसमें सामाजिक विचार-धारा पर अवांछनीय प्रभाव पड़ता है। जीवन के प्रति अनास्था रखनेवाला साहित्यकार अपने अशांत मानस के विक्षोभ से बचने के लिये चित्त को अचेत पाशविक वृत्तियों पर केंद्रित करता है। इस क्रिया से उत्पन्न क्षणिक संतोष की रक्षा के लिये वह जीवन के नैतिक मूल्य को ठुकरा देता है। राजनीतिक विचारों में विशृङ्खलता

एवं अव्यवस्था आ जाने के कारण जब सामाजिक जीवन को दुश्चिंताएँ आक्रांत करने लगती हैं, विशेषकर तभी ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होती है।

भविष्य एक धोखा है, वर्तमान ही सब कुछ है, यह धारणा उस परिस्थिति की उपज है, जिसमें माँस आत्मा के प्रति विद्रोह करता है। भविष्य आत्मवादी के विश्वास की झंकार है, जिसका सातत्य उसे वर्तमान की सीमाओं को तोड़कर आगे बढ़ने को आमंत्रित करता है। अनात्मवादी भविष्य की कल्पना भी नहीं करता और पेट की सत्ता को ही साध्य मानकर वर्तमान का बंदी बन जाता है। उसकी यह देहात्म-वादिता मृत्यु के भय की परिचायिका है। जब मनुष्य मृत्यु से डरने लगता है, तब वह दैहिक सुख की साधना की ओर विशेष रूप से आकृष्ट होता है, और उसकी यह प्रवृत्ति वासना का रूप धारण कर लेती है। कुछ ऐसे भी शाश्वत मूल्य हैं, जो न केवल जीवन में तेज और आलोक भरते हैं, प्रत्युत संपूर्ण सृष्टि की योजना को अपनी पवित्रता से निरंतर सींचते रहते हैं। यह आत्मामय प्रेम का एक रूप है। परंतु अनात्मवादी जिसे प्रेम कहता है, वह तो रक्त और मज्जा से भरी हुई खोपड़ी में उफनाता रहता है। एक के शाश्वत मूल्य हाड़-मांस का भी नैतिक परिष्कार कर चमका देते हैं। मृत्यु की छाया से भीत दूसरे की चिन्ता हाड़-मांस को स्मरोद्दीपन का आधार बना देती है।

जीवन के नैतिक पक्ष के प्रति आग्रही न होना एक बात है; उसके अस्तित्व में अविश्वास करना दूसरी बात। यह दूसरी प्रवृत्ति ही विवेक को दूषित करती है, और उसे मनुष्य तथा पशु के समीकरण की ओर ले जाती है। नैतिक पक्ष की अवहेलना भी मनुष्य को मनुष्य तथा पशु को पशु मानती रही है। वस्तुतः स्थापना और नीति की ही अवहेलना होती अथवा की जाती है। परंतु जहाँ ऐसी मर्यादा का अस्तित्व ही स्वीकृत

न हो, वहाँ यदि पाशविक वृत्तियाँ मानव को अपना दास बना लें, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

रति-भाव-प्रचार की चर्चा करनेवाले साहित्यिक और कलाकार यदि इन विचारों की ओर ध्यान दें, तो, लोक-मंगल की दृष्टि से, नए मूल्यों की उद्‌भावना होगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

समीक्षा और समीक्षक

सिद्धांत-निरूपण के नाम पर प्रचारात्मक विचारों के प्रकटीकरण को जिस प्रकार समीक्षा की संज्ञा नहीं दी जा सकती, उसी प्रकार मात्र सिद्धांत-निरूपण को समीक्षा नहीं कहा जा सकता। सिद्धांत-संगत होना समीक्षा की पूर्णता का मुख्य लक्षण है, सिद्धांतों से प्रेरित होना भी; क्योंकि सिद्धांतों के आधार पर ही साहित्यकार के कर्तृत्व का वैज्ञानिक पद्धति से किया हुआ विशद विवेचन उपस्थित किया जा सकता है, और इसी विवेचन एवं तज्जनित संतुलन का दूसरा नाम समीक्षा है। कहना नहीं होगा कि मान्यताओं और परंपराओं का समीक्षा के सिद्धांतों से अटूट संबंध है, और यही कारण है कि न्याय-संगत समीक्षा समीक्षक की वैयक्तिक धारणाओं से भिन्न, प्रत्युत उनके धरातल से बहुत ऊपर उठकर, विशालता और समग्रता के बीच खड़ी मान्यताओं और परंपराओं को साथ लेकर चलती है। इसका यह अर्थ नहीं कि मैं विचार-स्वातंत्र्य का विरोधी हूँ। वस्तुतः विचार-स्वातंत्र्य एक दायित्व-पूर्ण अधिकार है,

एक दृष्टि से बंधन का पर्याय; परन्तु किसी भी अवस्था में निरंकुशता का द्योतक नहीं । धारणाओं और विचारों का निर्माण अनुभव, अध्ययन एवं अनुशीलन-परिशीलन तथा मनन-चिंतन का परिणाम है । जो इससे भिन्न है, वह स्वेच्छाचारिता के ही नाम से पुकारा जायगा । स्वेच्छाचारिता से विचार-स्वातंत्र्य अपवित्र एवं कलंकित होता है; मर्यादा की रक्षा से उसका गौरव बढ़ता है । वैयक्तिक विचारों और धारणाओं के प्रति दुर्निवार आग्रह हठवाद का रूप धारण कर उस आदर्श की हत्या कर डालता है, जो साहित्य का जीवन है और प्राण भी । समीक्षा साहित्य का एक प्रमुख अंग है । फलतः वह व्यक्तिवाद का तूर्यनाद नहीं बन सकती । समष्टि के कल्याण के लिए, जो सत्साहित्य का सर्वोच्च उद्देश्य माना जाता है, सिद्धांततः ऐसा होना भी चाहिए ।

मान्यताएं और परंपराएं मिटाई-बनाई जा सकती हैं । ऐसा बराबर हुआ है । स्वस्थ वातावरण और अधिकाधिक विकास के लिये ऐसा होना आवश्यक भी है । इस दिशा में गत्यवरोध न केवल विकास के लिये अमंगल-सूचक माना जायगा, बल्कि वह साहित्यिक विचारकों और चिंतकों के दिवालिएपन का द्योतक भी होगा । विचार और धारणाएँ जब व्यक्ति को छोड़कर समष्टि के प्राणों की झंकार बन जाती हैं, उनके प्रति जब लोक का आग्रह बढ़ जाता है, तब वे परंपरा की मान्यता और संज्ञा से अभिहित होती हैं । हिंदी-साहित्य में, विशेषतया, आलोचना के क्षेत्र में जो मान्यताएँ और परंपराएँ युग-युग से चली आ रही हैं, उनके प्रति आज अविश्वास अधिक है, श्रद्धा कम । इसका कारण राजनीति बता सकेगी, साहित्य नहीं, हालांकि समस्या साहित्य की है । पुरातन के प्रति आज का अमर्ष, रोष और अविश्वास नई चेतना का वरदान पाकर नवीन विचारों और धारणाओं का सृजन कर रहा है । आज के नवीन विचार और धारणाएँ मान्यताओं और परंपराओं का गौरव प्राप्त कर सकेंगी, यह तो कोई



ज्योतिषी [illegible] प्रकट [illegible] है। यह बात दूसरी है कि उनके प्रतिपादक बेतरह-चिल्ल-पों मचाए गए हैं। चूँकि अभी सिद्धांत-निरूपण ही हो रहा है, [illegible] समीक्षा के वर्त्तमान को प्रस्तावना-काल मानना ही तर्क-संगत होगा। यों प्रयोगवादी अपने को प्रसन्न करने के लिये चाहे जो कहें।

प्रस्तावना-काल आडंबर से पूर्ण होता ही है। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि समीक्षक असंयत भाषा का व्यवहार करे। संयम का साथ छोड़ देने से समीक्षक का रूप विकृत हो जाता है, उसके मस्तिष्क में कृत-सापत्निक का क्रोध उत्पन्न होता है, जिससे उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, और उसके विचार समीक्षा के उद्देश्य की पवित्रता को अपने काले आवरण से ढँक लेते हैं। इस दायित्व-हीन आचरण से जिस विचित्र परिस्थिति का प्रादुर्भाव होता है, उसमें समीक्षक कृतिकार को सामने खड़ा कर अभिधा और लक्षण से अपने को ही सभ्य जाति के बीच हबशी समझने लगता है। अपने इस रूप का ज्ञान उसकी हिंसा को जगाता है, उसके रोष की आग को भड़काता है, और उसकी लेखनी बेलगाम घोड़े की तरह दौड़ने लगती है। मन और मस्तिष्क की इस अवस्था को मनोविज्ञान उन्माद के नाम से पुकारता है। यों तो उन्माद को वरदान की संज्ञा मिल ही नहीं सकती; विशेषकर समीक्षक के लिये तो यह घोर कलंक है।

कुछ अमेध्य-युक्त समीक्षक जब यह कहते हैं कि आज तक कृतिकार प्रशंसात्मक विवेचना से ही परिचित थे, आलोचना के सिद्धांत से अपरिचित, तब एक साथ ही कई प्रश्न सामने आ जाते हैं—क्या मिश्रबंधु, आचार्य शुक्ल, पद्मसिंह शर्मा आदि आलोचकों का कोई महत्त्व नहीं? क्या प्रशंसात्मक विवेचना समीक्षा नहीं कही जा सकती? क्या पूर्ववर्त्ती समीक्षक बेईमान थे? क्या समीक्षा की उपाधि प्राप्त करने के लिये उसका ध्वंसात्मक होना अनिवार्य है? क्या प्रतिकूल समीक्षा के कारण के अभाव में भी समीक्षक को ध्वंसलीला करनी ही चाहिए?

क्या समीक्षक कोगकग है, रक्त पीना ही उसका स्वभाव है ? क्या समीक्षा के भविष्य का यही रूप है ?

इन प्रश्नों का चाहे जो उत्तर मिले, परंतु एक बात स्पष्ट है। साहित्य के प्रति अंधविश्वास की जड़ को सुदृढ़ बनाने का व्यर्थ प्रयत्न करनेवाला समीक्षक अपने को 'हौआ' बनाना चाहता है; वह चाहता है, उसी के दिए हुए प्रमाण-पत्र के आधार पर कृतिकार की सेवाओं का मूल्यांकन हो। उसकी दृष्टि में कृतिकार के निजी विचारों का कोई महत्त्व नहीं। यही नहीं, कृतिकार का संपूर्ण अस्तित्व ही समीक्षक की कृपा पर अवलंबित है। परंतु वस्तु-स्थिति पर गंभीरता-पूर्वक विचार किया जाय, तो बात उलटी पड़ेगी। कृतिकार अक्षय वैभव का स्वामी होता है; उसके कोष में भाँति-भाँति के रत्न पाए जाते हैं। वह लुटाने के लिये ही जन्म लेता है; जब तक जीवित रहता है, रत्न-राशि लुटाता रहता है। और, प्रचारवादी समीक्षक होता है परपिडादप्रकृति का पोषक।

इस कोटि का समीक्षक यह भी कहता है कि यदि 'निराला'-जैसा कवि हिंदी में न लिखता होता, तो हिंदी राष्ट्र-भाषा के सम्मानित पद की अधिकारिणी नहीं हो सकती थी। यहाँ 'निराला' के प्रति आदर्श आदर का भाव प्रदर्शित किया गया है, परंतु इसके मूल में वह आग्रह नहीं, जिससे सत्य का परिचय मिलता है; प्रत्युत विरोध की तीव्रता को कम करने का प्रयास-मात्र ही परिलक्षित होता है। वस्तुतः लक्ष्य है भारतीय संस्कृति के मूल पर कुठाराघात। मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि 'निराला' अभारतीय संस्कृति के पोषक और प्रचारक हैं, बल्कि यह कि 'निराला' के पहले तुलसी, सूर आदि ऐसे महाकवि हो चुके हैं, जिनकी अमर रचनाओं के आधार पर ही हिंदी-साहित्य टिका हुआ है, ठीक उसी प्रकार, जैसे शिव के त्रिशूल पर पुण्य नगरी काशी। यदि गत ३०-४० वर्षों का ही इतिहास लिया जाय, तोभी 'हरिऔध' मैथिलीशरण गुप्त, 'प्रसाद' आदि ऐसे श्रेष्ठ कवि मिलेंगे, जिन्होंने हमारी

सांस्कृतिक चेतना को जगाया है, और राष्ट्र-भारती का गौरव वर्द्धन किया है। सुनते हैं, इङ्गलैंड में कभी यह प्रश्न पूछा गया था कि शेक्सपियर और बृटिश साम्राज्यवाद, इन दोनों में से अँगरेज-जाति किसे पसंद करती है ? उत्तर मिला था, शेक्सपियर के सामने बृटिश साम्राज्य नगण्य है। यदि ऐसा ही कोई प्रश्न भारतीय स्वतंत्रता और संत-शिरोमणि तुलसीदास के विषय में पूछा जाय, तो बहुमत आयेगा। तुलसीदास और सूरदास के पक्ष में ही ऐसा मेरा विश्वास है। परंतु भारतीय संस्कृति के प्रति जिसका घोर अविश्वास हो, वह निश्चय ही इन कवियों को वह स्थान नहीं दे सकता, जो अँगरेजों द्वारा शेक्सपियर को मिल चुका है। तुलसीदास को 'तुलसिया' कहनेवाले अर्थलोभी पाखंडवादियों की संख्या बढ़ने को होगी, तो बढ़ेगी ही। परंतु यह आशा अनुचित नहीं कही जायगी कि समीक्षक संपूर्ण भारतीय संस्कृति और उसके प्रतिनिधि कवियों की समस्त साधना को एक वाक्य में ही समाप्त न कर दे, प्रत्युत स-तर्क सिद्ध करे कि वे उस सम्मान के अधिकारी नहीं हैं, जो उन्हें मिल चुका है, और जो उन्हें प्रतिदिन मिल रहा है।

माना कि समीक्षक कृतिकार-सा कोई कवि धातु नहीं, तो क्या वह परशुराम है ? नहीं, यह कल्पना से परे है। फिर वह बार-बार चिल्लाता क्यों है—"मेरे समानधर्मा समीक्षको ! तुम्हारे पूर्वज मूर्ख और बेईमान थे, तुम ज्यादा बुद्धिमान् और चतुर हो। अपनी अपार शक्ति का अनुभव करो, और कठोर बनो। विश्व दहन के लिये तैयार हो जाओ।" यह तो साहित्यिक सन्निपात का लक्षण है। साहित्य के मंगल की प्रार्थना है कि यह रोग यहीं रुक जाय, आगे न बढ़ने पावे। यदि कृतिकार भी लक्ष्मण की वाणी का प्रयोग करने लगे, तो साहित्य-निर्माण हो चुका। कृतिकार लिखे, शक्ति-भर लिखे, मस्त होकर लिखे; समीक्षक भी अपने धर्म का पालन करता चले। गर्जन-तर्जन की कोई आवश्यकता नहीं; कहीं भी नहीं। इसी में साहित्य का कल्याण है।

समीक्षा में निष्पक्षता बांछनीय है और स्पष्टता श्लाघ्य। परंतु इन दोनों के ऊपर संमीभूत तर्क को बैठाना पड़ेगा। और, जहां तक कर्तृत्व का संबंध है, यह तर्क सावर्ण होगा, तभी समीक्षक निष्पक्षता और स्पष्टता की रक्षा कर सकता है। और, समीचीन तुलनात्मक अध्ययन भी। सावर्ण लक्ष्य से शून्य समीक्षा कृतिकार का उपहास होगी, एक दृष्टि से घोर अन्याय भी। उसका रूप अमेध्य-लिप्त तो होगा ही। इसीलिए इस बात की अपेक्षा होती है कि समीक्षक कृतिकार के साथ चले। वह कृतिकार की मनोदशाओं का अध्ययन और विश्लेषण करे, अपने निजी विचारों का नहीं। समीक्षक में इस संवेदनशीलता का होना उतना ही आवश्यक है, जितना शरीर में प्राण का होना। अन्यथा उसकी लिपिबद्ध विचारमाला अविनिगम ही कही जायगी। निश्चय ही न्याय की यह माँग घृणय नहीं कही जायगी। चाँदी के टुकड़ों पर बिकनेवाली समीक्षा की बात अलग। स्वस्थ समीक्षा के इस महत्व-पूर्ण तत्त्व को यदि समीक्षक से सहानुभूति शीलता की याचना माना जाय, तो स्पष्ट है कि समीक्षक अपने को सर्वशक्ति-संपन्न अधिनायक ही समझता है। अधिनायकतंत्र राजनीति का पाणिग्रहण कर सकता है; परंतु उसे याद रखना चाहिए कि वह स्वयंवरा कला की छाया भी नहीं छू सकता।

पलायनवाद

यदि यह सत्य है कि तत्कालीन राष्ट्रीय आंदोलन की विफलता से निराश होकर छायावादी कवियों ने पलायन-वृत्ति को अपनाया, जिसके कारण उनका कंठ गीला हो गया, और वे वेदना के गीत गाने लगे, तो आज परिस्थिति बदल जानी चाहिए थी। आज की सामाजिक और राजनीतिक अवस्था छायाकालीन अवस्था से भिन्न है। जिस राष्ट्रीय संघर्ष की असफलता से छाया-युग में नैराश्य का वातावरण उत्पन्न हुआ माना जाता है, उसकी सफलता से आज देश स्वतंत्र एवं प्रगति के पथ पर निरंतर धावमान है। दूसरे पराधीन तथा उत्पीड़ित देश हमारी ओर आशा-भरी दृष्टि से देख रहे हैं। इसे हम पलायनवाद की भूमिका नहीं मान सकते। फिर भी आज के ९० प्रतिशत गीत करुण-रस से ही ओत-प्रोत हैं। इसका क्या कारण है? पलायनवाद का आविष्कार करनेवालों ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। शायद देंगे भी नहीं, क्योंकि उनकी बहुप्रचारित नई चेतना और नई दिशा भी पलायनवाद ही है।

बात यह है कि मनोविज्ञान के अनुसार करुण-रस सबसे प्रिय और सबको प्रिय होता है। गीत दो ही प्रकार के गाए जाते हैं, हर्ष के या दुख के। यों तो चारण भी कड़क-भरे गीत गाते फिरते हैं, परंतु कुछ क्षणों बाद ही हाँफने लगते हैं। हर्ष और दुख के गीत तन्मयता की घड़ियों में प्राणों के सितार पर उतरते हैं, मंद-मधुर गति से थिरकते हैं। उनकी नृत्य-लहरियों के साथ शरीर का रोम-रोम झूमने लगता है। गीत एकांत में ही गाए जाते हैं। और, तन्मय व्यक्ति, अपने को एकांत में पाकर, अपने में सब कुछ पा लेता है। सबके जीवन में सुख की घड़ियाँ भले ही न आई हों, लेकिन दर्द ही एक ऐसा मसीहा है, जो हर आँगन में अलक्ष्य चरणों से उतरता है। यदि हृदय ने उसकी पग-ध्वनि सुन ली, तो आँखें भर आईं। और, यदि हृदय पत्थर ही बना रहा, तो मस्तिष्क ज्वालामुखी बन जाता है, जिसका विस्फोट अनिश्चित नहीं होता।

मुझे तो ऐसा लगता है कि इसके विरोध का स्वर ही सबसे बड़ा पलायनवाद है। आत्मा की वाणी धीमी और करुण होती है, क्योंकि उसमें ईश्वर बोलता है, और उसकी प्रत्येक झंकार अमूर्त की स्मृति बनकर सुननेवाले को स्वप्न-देश की ओर आकृष्ट करती है। कुछ तार्किक और विचारक ऐसे भी होते हैं, जो आत्मा की वाणी सुनना नहीं चाहते, उस पर कोई भारी चट्टान डाल देना चाहते हैं, जिससे वह धीमी करुण-मधुर आवाज उनके कर्ण-कुहरों में प्रवेश न कर सके। इसलिये वे भाँति-भाँति के तर्कों का सहारा लेकर कोलाहल-प्रिय बन जाते और अपने को उत्तेजना एवं प्रोद्दीपन की उत्ताल-उच्छृङ्खल लहरों में छोड़ देते हैं।

जिसके मन में संभ्रम होता है, वही हृदय की वाणी सुनना नहीं चाहता। उसका दर्प उसे अपनी मानसिक अस्तव्यस्तता स्वीकार नहीं करने देता। ऐसे व्यक्ति की मान्यताएँ, स्थापनाएँ प्रतिदिन, प्रतिक्षण बदलती रहती हैं। सात दिनों में उसके विचार सात बार बदलते हैं, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार वह अपने वस्त्र बदलता है। आज वह भौतिक-

वादी है, कल कोई पुस्तक पढ़कर आदर्शवादी हो जाता है, तीसरे दिन यथार्थवाद और चौथे दिन गांधीवाद का प्रतिपादन करता है, पाँचवें दिन उस पर फ्रायड का भूत सवार हो जाता है, छठे दिन वह चार्वाक को अपना उपास्य बना लेता है, और सातवें दिन घोषणा करता है कि जो उसके साथ नहीं चलता, वह पलायनवादी है। यही प्रवृत्ति पर-निंदा, ध्वंसात्मक आलोचना एवं मिथ्या के प्रचार की ओर ले जाती है। पला-यनवाद का यह दूसरा रूप है।

पलायनवाद का एक और रूप है। कुछ ऐसे व्यक्ति भी होते हैं, जो आत्मचिंतन एवं आत्मपरीक्षण के अवसर को अपनी ओर आते देखकर दूसरों के लिये नई दिशाओं का निर्माण करने लगते हैं। यह मानसिक क्रिया उन्हें आत्मविस्मृत कर देती है, जिसके पर्दे में वे अपनी वैयक्तिक, आंतरिक एवं आत्मिक पुनर्निर्माण की आवश्यकता को आसानी से छुपा लेते हैं।

यहाँ यह निवेदन कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि युग की प्रवृत्तियों का मोह उचित आलोचनात्मक मूल्यांकन के कार्य में, पग-पग बाधक सिद्ध होता है। यह एक विचित्र बात है कि वर्त्तमान ने बराबर अपने को अतीत से श्रेष्ठ, उन्नत एवं प्रगत-प्रकृष्ट माना है, और बराबर उसका विरोध किया है। सृष्टि एक परंपरा है। इसी प्रकार मानवता भी एक परंपरा है। उद्भव से लेकर विकास तक की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ और स्थितियाँ परंपरा में ही रूप ग्रहण करती और बदलती रहती हैं। मनुष्य परंपरा के बाहर रह नहीं सकता। तब यदि वर्त्तमान को अतीत से एकदम भिन्न मानें, तो इसका यही अर्थ होगा कि हम रक्त की आवाज को भी पहचानने में असमर्थ हो गए हैं। फिर हमारा किया हुआ मूल्यांकन अथवा पुनर्मूल्यांकन किस प्रकार सम्यक् और समीचीन माना जा सकता है ?

एक बात और है। बहुधा विचार-धाराएँ विकास की एक बिंदु तक

पहुँचकर अपना रूप, और कभी-कभी गति, ताल और लय भी बदल देती तथा दूसरी दिशा में बहने लगती हैं। किंतु उनकी मूलगत प्रवृत्तियों में कोई परिवर्तन नहीं होता। और, यदि कभी कोई परिवर्तन दिखाई पड़े, तो उसे सर्वथा नवीन नहीं मानेंगे। दूसरे शब्दों में विचार-धाराएँ अपने में अतीत और वर्तमान, दोनो को लेकर बहती हैं। इसी क्रम को सातत्य कहते हैं, जो मूल्यांकन अथवा पुनर्मूल्यांकन का एक अत्यंत महत्त्व-पूर्ण आधार है। वर्तमान में अतीत को देखने की जिस आलोचक में क्षमता नहीं होती, वही अपने मस्तिष्क के संभ्रम को पलायनवाद की संज्ञा देता है।

आज का हिंदी-साहित्य

साहित्य को जीवन और समाज का दर्पण कहते हैं। यह नितांत सत्य है। मनुष्य की इकाइयों का समूह ही समाज है, जिसके निर्माण के मूल में मानव-मन और मस्तिष्क की विचार-धाराएँ पाई जाती हैं। ईमानदारी विचारों के सामाजिक चित्रण की प्राण-शक्ति है, चाहे आप उसे आदर्शवाद कहें या यथार्थवाद। यथार्थ के हृदय से निकली हुई झंकार अपने स्वप्निल कंपन के माध्यम से जिस भाव-लोक का निर्माण करती है, वही आदर्शवाद है। और, आदर्श के मूल में प्रेरणा बनकर रहनेवाली अनुभूतियों को यथार्थवाद कहते हैं। साहित्य की इन्हीं दो चिरंतन धाराओं में समाज प्रतिबिंबित होता रहता है, इन्हीं दो संगीताप्लावित गरिमामयी ऊर्मियों की गोद में समाज का हृदय सोता है, सपने देखता है, जागता है, और प्रेरणा के अंगारों को छूकर क्रियाशील होता है। परंतु क्या अति आधुनिक हिंदी-साहित्य को, इस दृष्टि से, हम समाज का दर्पण कह सकते हैं? इसी एक प्रश्न को लेकर अत्यंत

संक्षेप में हम उन समस्याओं पर विचार करना चाहेंगे, जो आज हमारी मातृभाषा के सामने खड़ी हैं, और उसके भविष्य के प्रति कुठार-हस्त हैं।

स्वाधीनता के पूर्व के हिंदी-साहित्य को लीजिए। चाहे काव्य हो अथवा नाटक, उपन्यास हो अथवा इतिहास, प्रायः हर क्षेत्र में हमारे आचार्य उस ऊँचाई तक पहुँच चुके थे, जिसके सामने वर्तमान का दर्प बौना-सा लगता है। प्रसाद, प्रेमचंद, रामचंद्र शुक्ल आदि कुछ ऐसे नाम हैं, जो आज प्रतीक बन गए हैं—वह प्रतीक, जो गहन अंधकार में प्रकाश-गृह का काम करता है। पूज्य और नमस्य। इन तथा अन्य अनेक तत्कालीन कलाकारों में अनुभूति की गहराई और सच्चाई थी; उनकी साहित्य-साधना की पार्श्वभूमि में मानव-हृदय की ईमानदारी थी। उनकी चेतना स्वयं जागरित थी, इसलिए वह युग को जागरण का संदेश दे सकी। परंतु जब हम स्वाधीनता के बाद के साहित्य पर दृष्टि डालते हैं, तो दुःख होता है। उचित तो यह था कि स्वाधीनता के पूर्व के साहित्य में जिस भारतीयता के ओज और तेज के दर्शन हुए थे, उसका रूप और निखरता, उसकी चमक और बढ़ती, उसका सौरभ अपनी संपूर्ण पवित्रता लेकर चारो दिशाओं में फैल जाता, एवं उसका आह्वान उस सीमा के भी आगे पहुँचता, जहाँ जाकर वेदों की ऋचाओं ने समस्त संसार को पुकारा था, समग्र मानवता को प्रबोध दिया था, और कण-कण के अंतराल में अपना अमिट चिह्न स्थापित किया था। खेद का विषय है, वर्तमान हिन्दी-साहित्य प्रत्येक दृष्टि से अभारतीय है।

साहित्य में धर्म नाम की कोई चीज नहीं रही। न केवल साहित्य में, प्रत्युत दैनिक जीवन में भी उसका अस्तित्व प्रश्न-चिह्न का ढाँचा बन गया है। काव्य में न तो भारत की मिट्टी बोलती है, न उसका आकाश बोलता है; न उसकी हवाएँ डोलती हैं, न उसकी आग की पावनता तेज की किरणें विकीर्ण करती है; नाटकों और उपन्यासों में जो आकृतियाँ

आती हैं, उन्हें भारतीय कहना भारत की सांस्कृतिक मर्यादा को कलंकित करना है। रही आलोचना-शास्त्र की बात। वह तो बिलकुल निराली है। रिचार्ड्स और इलियट हमारे कुल-देवता बन गए हैं; प्रातःस्मरणीय और बंदनीय। स्पष्ट है कि हमने पराधीनता की कड़ियाँ तो तोड़ीं, परंतु उनके स्थान पर मानसिक दासत्व को बैठा दिया। राजनीति के दो रूप हमारे सामने हैं। एक वह, जिससे प्रेरणा पाकर हमने विदेशी प्रभुत्व के पाश-जाल से अपने देश को मुक्त किया, और दूसरा वह जिसके जादू से प्रभावित होकर हमने मानसिक दासत्व के चरणों में हृदय और आत्मा को अर्पण कर दिया। एक का इतिहास गौरवमय है; दूसरे का करुणाजनक।

भारतीय संविधान ने हिंदी को राजभाषा मान लिया। इसका राज-नीतिक महत्त्व अवश्य है, परंतु साहित्यिक महत्त्व भी कम नहीं। हिंदी को यह सम्मान देकर उसके साथ पक्षपात नहीं किया गया। प्रत्येक दृष्टि से हिंदी इस गौरव की अधिकारिणी है। परंतु हमने क्या किया? हम तो दोनों पहलुओं से हिंदी के इस सम्माननीय पद की मर्यादा की रक्षा करने में अब तक असफल रहे हैं। यह नहीं कि हम हिंदी को इस रूप में देखकर गौरव का अनुभव नहीं करते। बात सची यह है कि हम सेवा का पथ छोड़कर अवसरवाद की ओर झुक गए हैं। वणिक-बुद्धि हमें अधिक प्यारी है। कुछ दिन पहले तक साहित्य राजनीति को प्रेरणा देता रहा; उसकी साँसों में तूफान, उसकी वाणी में चिनगारियाँ और उसकी आँखों में दिव्य चमक भरता रहा। परंतु ज्योंही हिंदी को मान्यता मिली, राजनीति की बन आई, और साहित्य उसके चरण पखारने लगा, एवं कला उसकी राख से अपनी माँग भरकर सुहागिन दीखने का प्रयास करने लगी। साहित्यिक बड़े वेग से राजकीय कार्यालयों की ओर दौड़े; क्योंकि नए-नए और लुभावने वातायन खोल दिए गए। तू-तू, मैं-मैं का बाजार गर्म हो गया, और दौड़-सी मच गई। पद और

सत्ता के मोह ने साहित्य के लोकमंगलकारी रूप को राहु बनकर ग्रस लिया; साहित्यिकों ने अपना विवेक खो दिया। यहीं सर्जनात्मक प्रतिभा के ध्वंसावशेष पर नेतृत्व के लोभ का जन्म हुआ, और यही कारण है कि आज हिंदी में एक नहीं, सात-सात राष्ट्र-कवियों का उल्लेख होने लगा है राष्ट्र एक, राष्ट्रपति एक, राष्ट्रभाषा एक किन्तु राष्ट्र-कवि सात!! इस निरंकुशता को यदि हम राजनीति की देन कहें, तो अतिशयोक्ति न होगी।

अब कुछ लिखने-पढ़ने की बात कहूँ। इस क्षेत्र में तो ऐसी बाढ़ आई है कि देखते ही बनता है। पुरस्कार मिलने लगे; कुछ राज्य-सरकारों की ओर से, कुछ राज्याश्रित साहित्यिक संस्थाओं की ओर से। पुस्तकालयों के लिये पुस्तकें खरीदी जाने लगीं। फिर क्या था—पुस्तकें लिखी जाने लगीं। साहित्य के किसी अंग को लीजिए, आपको अनेकानेक पुस्तकें मिलेंगी। परंतु इन पुस्तकों के प्रणयन में ईमानदारी और सचाई कहाँ तक बरती गई है, आत्मा को जगाकर मानवता को बल देने का कहाँ तक और कितना प्रयास किया गया है, यह विचारणीय है। यह भी विचारणीय है कि इन असंख्य पुस्तकों के संख्यातीत पृष्ठों में भारत, स्वतंत्र भारत की वाणी बोलती है या नहीं; उसका पावन-मधुर हृदय दीखता है या नहीं; उसकी मिट्टी की जागरित चेतना अँगड़ाइयाँ लेती है या नहीं; उसकी आँखों का शाश्वत प्रकाश भौतिकवाद के अत्यंत कुरूप पुत्र युद्ध के अभिशापों से जर्जरित और विपन्न विश्व का पथ-प्रदर्शन करता है या नहीं। स्वतंत्र देश की राज-भाषा के साहित्य-निर्माण-जैसा महान् गुरुतर कार्य को अनवरत साधना, कठोर तपस्या और अध्ययन-मनन-चिंतन से ही पूरा किया जा सकता है। परन्तु युग की दृष्टि तो अन्यत्र है।

राजनीति के स्तन-पान से जिन कुप्रवृत्तियों को बल मिला, उनका नग्न-नृत्य आलोचना के क्षेत्र में देखने को मिलता है। यह मैं मानता हूँ कि स्वाधीनता के पूर्व का आलोचना-साहित्य, विस्तार की दृष्टि से,

उतना संतोषजनक नहीं था ; परंतु जो कुछ था, वह आज भी बेजोड़ है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल, पंडित पद्मसिंह शर्मा तथा बाबू श्यामसुन्दर दास के नाम गर्व के साथ लिए जा सकते हैं। अति आधुनिक आलोचना उच्छिष्ट पदार्थ-सी है। न उसमें मौलिकता है, न गांभीर्य ; न उसमें प्राण है, न मर्म। वह विदेशी कागज का फूल-भर है। इस क्षेत्र में यास्क, पाणिनि, पतंजलि आदि की जो देन है, वह आज भी ईर्ष्या की वस्तु है। इसके अतिरिक्त भरत से पंडितराज जगन्नाथ तक आचार्यों द्वारा इस दिशा में जो प्रयास हुए, इतिहास आज भी उनकी स्तुति करता है। विश्लेषणात्मक दृष्टि से भारतीय साहित्य-शास्त्र की श्रेष्ठता का एक छोटा-सा प्रमाण रस-सिद्धांत के निरूपण में पाया जाता है। अनुभूति से संचारित होकर किस प्रकार रस ब्रह्मानंद-सहोदर की उपाधि पा लेता है, यह विश्व-साहित्य में अन्यत्र देखने को नहीं मिलता।

नए मानों और स्थापनाओं के निर्माण को मैं अवांछनीय नहीं मानता। संभव है, यह आवश्यक भी हो। परंतु हमें इस बात का ध्यान रखना है कि हम ऊपर ही तैरते न रह जायँ; कहीं ऐसा न हो कि हम पाश्चात्त्य प्रवृत्तियों के जाल में पड़कर अपने व्यक्तित्व, अपने इतिहास, अपनी संस्कृति और अपनी नैतिक तथा धार्मिक चेतनाओं को भूल जायँ ! मेरा विश्वास है, यदि आधुनिक युग के क्षोभ-भरे विचारों का भारतीय साहित्य-शास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों के माध्यम से अध्ययन, अनुशीलन और परिशीलन किया जाय, तो हम न केवल भारतीय चिंता-धारा के अनुरूप नए मानों और स्तरों का निर्माण कर सकेंगे, प्रत्युत संसार को एक नया आदर्श, एक नई प्रेरणा एवं एक नई दिशा भी दे सकेंगे। यह दुर्भाग्य की बात है कि आज के आलोचक अखिल-भारतीय संस्थाओं को अपनी जेब में ढोए तो फिरते हैं, परंतु उनके व्यक्तित्व में अपने 'अहं' को खो देना पसंद नहीं करते। वे एक शब्द में किसी को बड़ा कह देंगे, किसी को छोटा। उनका निजी दृष्टिकोण ही आलोचना

का सर्वमान्य और सर्वश्रेष्ठ मापदंड है। उनकी ईमानदारी खरीद ली जाती है, और उनके पांडित्य का परिचय वे ही लेख देते हैं, जिनके शीर्षक होते हैं—(१) हिंदी के दस सर्वश्रेष्ठ कवि, (२) हिंदी के पंद्रह सर्वश्रेष्ठ कहानीकार, (३) हिंदी के आठ सर्वश्रेष्ठ उपन्यास इत्यादि। सम्मति देते हैं, तो यही लिखते हैं—"मेरी दृष्टि में अमुक हिंदी के पाँचवें कवि हैं, अमुक हिंदी के तीसरे औपन्यासिक हैं, अमुक सर्वश्रेष्ठ नाटककार हैं।" इन प्रवृत्तियों से हिंदी के आलोचना-साहित्य की श्री-वृद्धि कैसे होगी, यह सोचने की बात है।

साहित्य-निर्माण के प्रश्न पर विचार करते हुए हमारे नेता-साहित्यिक कह देते हैं कि कविता वही है जो युग का प्रतिनिधित्व करे; कहानी और उपन्यास वही है जिसमें युग की तड़प व्यंजित हो। युगानुसरण ही युग-धर्म है, यह मैं नहीं मानता। यह सही है कि प्रत्येक युग की अपनी समस्याएँ होती हैं, और इन्हीं समस्याओं से प्रभावित होकर युग-चेतना का प्रादुर्भाव होता है। मेरे विचार में जहाँ युग और चेतना का संगम है, वहीं साहित्यकार अथवा कलाकार वाणी का दीप आलोकित करता है। साहित्य शिष्य नहीं, गुरु है। उसका स्थान युग के आगे होता है, पीछे नहीं। आगे वहाँ, जहाँ युग की अंतश्चेतना प्रवृत्तियों के ऊपर उठकर बोलती है। साहित्यकार और कलाकार के अक्षर, शब्द, रेखाकण प्राणाहुति के समान हैं, जिसकी पवित्रता की आंच से दिव्य चेतना मूर्त हो उठती है। युग की प्रवृत्तियां तामसिक विकार-भर हैं। साहित्य लोक-मंगल की दृष्टि से इन प्रवृतियों का परिमार्जन करता है। वह इनके स्वर में स्वर नहीं मिलाता। वह इन स्वरों को कला की चिनगारियों से धो-पोंछकर एकरूपता की गोद में बैठाता है, जहाँ पुरोहित लोक-मंगल उनके मस्तक पर चंदन-तिलक लगाता है। इस दृष्टि से जिस साहित्य का निर्माण हो, वही सच्चे अर्थ में युग-साहित्य माना जा सकता है, और आगे चलकर वही साहित्य युग-युग का

साहित्य बन सकता है। रामायणादि ग्रंथ इसके प्रमाण हैं। रीतिकालीन कवि असूर्यपश्याओं के अंगों का वर्णन करते थे। अति आधुनिक (Ultra modern) कवि दरिद्रता की पत्र-हीन छाँह में अपनी लाज को छिपानेवाले नारी-सौंदर्य का चित्रण करते हैं। यह युग की अपरिष्कृत मनोवृत्ति का द्योतक है; भले ही इस पद्धति के प्रवर्त्तक इसके माथे पर प्रगतिवाद अथवा प्रयोगवाद का चिह्न अंकित कर दें।

अत्यंत संक्षेप में आज के हिंदी-साहित्य की यही दशा है। प्रश्न है—ऐसा क्यों हुआ, ऐसा क्यों हो रहा है? इसके उत्तर में जो बात कहूँगा, वह कड़वी लगेगी। परंतु वही सत्य है। साहित्य का संबंध जितना सौंदर्य से है, उससे अधिक पवित्रता से है। सौंदर्य सत्य और शिव का पर्यायवाची है, और पवित्रता इन तीनों के अंतराल में बसने-वाली आत्मा का दूसरा नाम है। यह संबंध बड़ा दृढ़ होता है; परंतु जब घर में ही शत्रु पैदा हो जाते हैं, तब वह टूट जाता है, और साहित्य भटकने लगता है। जब तक बाहर के शत्रुओं से लड़ना था, हमारे साहित्यकारों ने खूब जौहर दिखाया। किंतु आज उनकी शक्ति शिथिल पड़ गई है; क्योंकि सर्जनात्मक प्रतिभा का शत्रु उनके हृदय में ही बसने लगा है। आज का साहित्य राजनीति के द्वार पर दो-चार कृपा-कणों के लिये भिक्षा-पात्र लेकर अलख जगाया करता है; वह परमुखापेक्षी हो गया है। यह हीनता का लक्षण है, और इसी हीनता के विविध रूप हमारी उन्नति के पथ में बाधक सिद्ध हो रहे हैं। न केवल तर्क और बुद्धि; बल्कि युग-युगों का संचित अनुभव भी यही बताता है कि राजनीति विचार-जगत् की समस्याओं को नहीं सुलझा सकती। वह पिघलती हुई प्रखरता के समान है, जो स्वयं ही अपनी आकृति से अनजान रहती है; इसलिये वह विचारों को अनिश्चय के अतिरिक्त और क्या दे सकती है? स्पष्ट है, इन बनती-मिटती आकृतियों और पिछलती हुई परंपरता के पीछे दौड़ने से हिंदी का कल्याण नहीं हो सकता; न 'मंत्रणालय खोलो'

का नारा बुलंद करने से उसका उद्धार हो सकेगा। हाँ, स्वयं लेखकों, कवियों और आलोचकों की संख्या में अभिवृद्धि अवश्य होगी, और कुछ लोगों की उदर-पूर्ति भी।

आवश्यकता दृष्टिकोण में परिवर्त्तन लाने की है। जिनका हिंदी से विरोध है, उनसे मेरा यही निवेदन है कि हिंदी किसी अन्य क्षेत्रीय भाषा का अधिकार छीनना नहीं चाहती। उसका यह भी मंतव्य नहीं कि अन्य भाषाओं के साहित्य नष्ट कर दिए जाएँ। यह सभी जानते हैं कि आज जिन क्षेत्रीय भाषाओं की ओर से इतना हो-हल्ला मचाया जा रहा है, उनके साहित्य का विकास अँगरेजी की छाया में अथवा उसके माध्यम से ही हुआ है। हिंदी यह भी नहीं चाहती कि किसी अन्य भाषा का विकास उसके माध्यम से हो। वह यही चाहती है कि अपने अनेकानेक गुणों के कारण भारतीय संविधान में उसने जो स्थान प्राप्त किया है, उसकी मर्यादा कोई नष्ट न करे। वह सर्वथा इस सम्मान के योग्य है, और एक ही देश की भाषा होने के कारण भारत की अन्य भाषाओं के हृदय में उसके प्रति द्वेष नहीं होना चाहिए। जब विदेशी भाषा के चरणों में इन गर्वीली भाषाओं ने अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया था, तब आज यदि अपनी बड़ी बहन के प्रति वे थोड़ी-सी उदारता भी न दिखा सकीं, तो इससे बढ़कर खेद और दुर्भाग्य की कौन-सी बात होगी!

इसी स्थान पर मैं हिंदी के हिमायतिओं से भी कुछ कहना चाहूँगा। नेता-मनोवृत्ति हर जगह और हर काम में सफल नहीं हो सकती। नेतृत्व की रक्षा के लिये हिंदी के भविष्य को संदिग्ध बना देना एक अशोभन कार्य होगा, अराष्ट्रीय भी। इसलिये इस उलझन के सुलझाने में राजनीति की गहनता को न आने देना ही वांछनीय माना जायगा। जब कभी मैं अपने नेता-साहित्यिकों के भाषणों को पढ़ता हूँ, तो लगता है, ये ही स्वनामधन्य व्यक्ति हिंदी के प्रधान शत्रु हैं। ये राजनीति की बातें ज्यादा करते हैं, भाषा और साहित्य की कम, तथा उससे भी कम

राष्ट्र-भाषा एवं राज-भाषा की।

दो-चार शब्द अपने समानधर्मा बंधुओं के प्रति भी निवेदित करूँ, तो अनुचित न होगा। सत्यं, शिवं, सुंदर की भावना का गलाघोंट कर हमने साहित्य-जगत् के वातावरण को दूषित बना दिया है, और हमारा कभी का मर्यादा-पूर्ण साहित्य आज दूसरों से अमर्यादित होने लगा है। हमारे साहित्य में अहिंदीभाषी कुरूपता और खोखलापन, हीनता और भद्दापन ही देखते हैं। नवीनता के झूठे आकर्षण ने न केवल हमें धोखे में डाल रक्खा हैं, प्रत्युत हमें पूर्णरूपेण अभारतीय बना दिया है। भाषा की भी संस्कृति होती है, यह हम भूल गये हैं। नवीनता के विष ने साहित्य और कला के प्रति हमारे सच्चे प्रेम को मार डाला है। हमारे हृदयों में न रस के प्रति आग्रह है, न आनंद की अनुभूति में विश्वास। न हम आत्मा को पुकारते हैं, न उसकी पुकार सुन सकते हैं, हम अपनी परंपराओं और मान्यताओं की चिता जलाकर आग ताप रहे हैं। आज के हिंदी-साहित्य में चारो ओर घृणा का वातावरण हाहाकार कर रहा है। घर-घर में, हृदय-हृदय में घृणा और असंतोष का अंधकार बैठ गया है। पिता-पुत्र के बीच कलह, भाई-भाई और भाई-बहन के बीच कलह, पति-पत्नी के बीच कलह, पड़ोसी-पड़ोसी के बीच कलह और अविश्वास, यह स्पष्ट ही उन कुप्रवृत्तियों का घातक प्रभाव है, जिनका पोषण और प्रचार आज का साहित्य कर रहा है। हमें इस परिस्थिति का मुकाबला करना है, और इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने भीतर आनंद और उल्लास की भावना को घनीभूत करें। हम अपने मन के अंधकार में एक बार फिर सत्य, शिव और सुंदर के दीप को जलावें। हम उसी नवीन की खोज और उपासना करें, जो भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक गूँज उठे। सबसे पहले हम अपने साहित्य को प्रत्येक दृष्टि से भारतीय बनावें; तभी वह समग्र संसार के सम्मुख भारत-वाणी के रूप में स्थान पा सकेगा।

आज हम हर बात में गणतंत्र और प्रजातंत्र की दुहाई देते हैं। पर यह कब सोचते हैं कि विचार-शक्ति और सुसंस्कृत तथा सुशिक्षित जनता के बिना जनतंत्र का कोई अर्थ ही नहीं हो सकता। साहित्य के माध्यम से ही हम जनता के हृदय तक पहुंच सकते हैं। कला का स्वर बड़ी सरलता से जनता का प्राण-स्पर्श कर लेता है। यदि हम अपने साहित्य को समुन्नत करें, समृद्धिशाली बनावें, तो निश्चय ही उसके माध्यम से जनता के स्तर को भी ऊँचा कर सकेंगे। निर्माण के क्षेत्र में हमारा अभियान ऊपर से नीचे की ओर नहीं, नीचे से ऊपर की ओर हो। जनतन्त्र की यही मांग है। लोक–मंगल की यही परंपरा है।

काव्य की उपलब्धियाँ

यदि भाषा के स्वच्छ परिधान में जीवन की पवित्र सच्चाइयों को व्यक्त कर दिया जाय, तो संभवतः वह एक ऐसा काव्य होगा, जो अनंत काल तक लोक-मन का दर्पण बना रहेगा। कवि शाश्वत सौंदर्य का लिपिक होता है। वह शब्दों की आत्मा में अपने को, अपने युग को, संपूर्ण वर्तमान को एवं समस्त भविष्य को छितरा देता है, और इस विलयन का प्रत्येक क्षण, प्रत्येक कण, जीवन के गीत का निरवशेष स्वर बनकर गूंजता रहता है। शब्द-सौंदर्य-साक्षात्कार तभी होता है, जब कवि अपने आपको बिसारकर, अपने बाह्य रूप को भूलकर उस ज्योर्तिमय चेतना-लोक में पहुँच जाता है, जहाँ की रूपाभा निहारकर साधारण व्यक्ति कुछ बोल भी नहीं सकता। साँसें चलती रहती हैं, मन का भोलापन प्रश्न करता है; चेतयमान मस्तिष्क उत्तर देता है। जीवन की सबसे पवित्र सच्चाई यही है, और इसी की अभिव्यंजना काव्य-गरिमा के नाम से पुकारी जाती है।

काव्य के विविध तत्त्वों के संयोग से कवि जिस पवित्रता को साकार करता है, जिस शब्दमय देवता की आरती उतारता है, उसके प्रति जिज्ञासा का भाव होना सहज-स्वाभाविक है। प्रश्न करनेवाला मन का भोलापन सभ्यता के आदि-काल से ही प्रश्न पूछता रहा, और मस्तिष्क उत्तर देता गया। किंतु समाधान न हो सका। भोलापन अपराजित रहा। पवित्रता का शिशु यह भोलापन अनेक रूपों में मानव-वाणी में व्यक्त हुआ है, और इसी के साथ व्यक्त हुआ है कवि की कल्पनाओं एवं भावनाओं का उच्चादर्श। यह क्रिया जब तक चलती रही, तब तक उसमें हीनता के भाव को प्रश्रय नहीं मिल सका। जब तक समस्वरता, संध्वनि, सानुरूपता, संमिति तथा संतुलन में कवियों की आस्था बनी रही, तब तक कविता हृदय से संलाप करती रही।

सामाजिक संस्कारों, बंधनों एवं असमर्थताओं की परिधि से बाहर निकलकर, फिर उस वातावरण से ऊपर उठकर कवियों ने शब्दमय देवता की पूजा की तथा अपनी भावनाओं और कल्पनाओं में असीम को स्थान दिया। साधना के सातत्य की वेदी पर प्राणों का दीप जलाकर उसकी 'लौ' से भविष्य के अंधकार-पथ को आलोकित करने के लिये नए-नए चाँद-सूरज गढ़ते रहे, और कल्पना की परा-शक्ति का, उसकी कोमलता का तथा सृजन-बल का जो परिचय दिया, वह चिरंतन बन गया है। दिशा, काल, संस्था और देश की सीमा को तोड़ती-फोड़ती हुई कला की यह साधना अपनी महिमा का विस्तार सदा से करती आ रही है। साधना की समिधाएँ और चिंतन की चिनगारियाँ जिस परिनिष्पत्ति को साकार करती हैं, वही विभूति कला की सर्वाङ्गपूर्णता की संज्ञा पाती है।

स्वच्छ आनंदमय प्रियत्व के रूप में जीवन का उदात्तीकरण एवं मानव-धर्म के पवित्र पुष्पों से श्रेय का अभिषेक, कवियों की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि का यही आधार रहा है। उनकी लोकोत्तर कल्पना ऊपर-से-

ऊपर उठकर पवित्रता के जिस स्तर पर पहुँच गई है, वहाँ केवल देवता-ही-देवता हैं, मानव या मानव-जगत् के हर्ष, शोक, जन्म-मरण की गंध भी वहाँ नहीं है। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि वे मानव-जीवन की कठोर वास्तविकता से विमुख रहे, और धरती से ऊपर ही उड़ते रहे। सत्य तो यह है कि जीवन की यथार्थताओं को समझने-समझाने के लिये भी उन्होंने देवोपम चरित्रवाले पात्रों को ही स्वीकार किया, अथवा साक्षात् देवता को ही धरातल पर उतार दिया। रामायण के राम, भागवत के कृष्ण पृथ्वी पर क्यों आते, यदि उन्हें उनके कवि कल्पना के चमकीले रंगों के रथ पर न ले आते ? मर्यादा-पुरुषोत्तम स्वर्ग में ही रमते, और मानव न जीवन की सच्चाइयों का अनुभव करता, न विश्व-मानव की कल्पना का महल उठाता। इस प्रकार शब्द-शक्ति के गौरव और वाणी की पवित्रता की रक्षा के लिये कवियों ने निराकार परमेश्वर को भी आकार प्रदान किया। मानस-मानसरोवर से उत्पन्न कविता पवित्रता की निष्कलंक प्रतिभा होती है, अतएव उसकी कल्पना एवं वाणी में स्थान पाने का वही अधिकारी होता है, जो उसी की भाँति सुनिर्मल और अकलंक हो।

प्रायः ऐसा भी देखा जाता है कि कवि अपने लिये किसी ऐसे लोक का निर्माण कर लेता है, जो न तो पहले कभी था, और न भविष्य में ही जिसके बनने की कोई आशा है। साधारण लोकालयों से कवि को संतोष नहीं होता, क्योंकि वहां वह जीवन को घुटते हुए पाता है। जीवन घुटने के लिये नहीं बना है। कालिदास ने इसीलिये अलकापुरी का निर्माण किया। अलकापुरी एक स्वप्न है; मनुष्य का सबसे सुंदर स्वप्न, जिसमें मानव-जीवन की समस्त अमूर्त इच्छाएँ साकार बन गई हैं। अमूर्त को आकार प्रदान करना एक बात है, किंतु विश्व के आदर्शीकरण के पश्चात् उस उपलब्धि को उदात्त चेतना के रूप में व्यक्त करना दूसरी बात। मेघदूत की दुनिया ऐसी ही एक कवि-कल्पना-संभूत दुनिया है, जिसे न तो विश्व-नियंता ने बनाया, न वह काल-दंड से चूर्ण हो सकती है। कवि की कारयित्री प्रतिभा और

भाषा की सर्वतोमुखी क्षमता के परिणाम-स्वरूप वह हमारी भावनाओं में सत्य की भाँति प्रतिभासित है। यह सही है कि कालिदास की कल्पना ने जिस नगरी और उस नगरी में रहनेवाले जिन चिर-यौवन-संपन्न व्यक्तियों का निर्माण किया है, वे संभवतः आज के बुद्धिवादियों द्वारा स्वीकार नहीं किए जा सकते। परंतु इस स्वप्न को आत्मसात् कर जीवन को उसी के अनुरूप बना देने के लिये मानवता इतनी कातर और व्याकुल है कि उसे बुद्धिवादियों और गणितज्ञों को अस्वीकार करने में कोई क्लेश न होगा।

जीवन की पवित्र सच्चाइयों को व्यक्त करते समय अमूर्त को रूप प्रदान करने का जहाँ तक प्रश्न है, उसमें कवि की सफलता की एक और दिशा है। सूक्ष्म और कल्पना-शक्ति द्वारा अमूर्त का मानवीकरण संभव है, और अनेक कवियों ने किया है। परंतु मात्र यही कवि की सफलता का प्रमाण नहीं माना जा सकता। शब्द का गौरव और वाणी की पवित्रता वहीं सिद्ध होगी, जहाँ कवि अमूर्त को अधिक-से-अधिक अनुपात में काल और दिशा के बंधन में बाँधता तो है, पर उसकी अतिमानवता को मैला नहीं होने देता। उदात्तीकरण का यही सिद्धांत है। उदात्तीकरण तभी संभव होता है, जब देवत्व और मनुष्यत्व में अधिक-से-अधिक सामंजस्य स्थापित हो। वाल्मीकि, व्यास, तुलसी आदि ने अपने-अपने ईश्वर-पात्रों को अपने अधिकार में ही रक्खा है। वे मानव बनकर ही रहे, हाँ, साधारण मानव न कहकर उन्हें मानवोत्तम माना जा सकता है। कविता के कल्पना-पक्ष की यही पवित्रता उसे सर्वश्रेष्ठ कला के सिंहासन पर बैठाती है।

आज के गणितज्ञ और वैज्ञानिक कविता को भग्नावशेष-मात्र मानते हैं, और जीवन में उसकी आवश्यकता स्वीकार नहीं करते। शाश्वत मूल्यों को पालनेवाली आत्मामयी के प्रति यह अविश्वास यंत्र-युग की देन है। कल्पनाओं और भावनाओं की पवित्रता के प्रति अविश्वास से

नव-निर्माण नहीं होता। वाणी के रूप में ही मनुष्य को पहले पहल यह वरदान मिला था, जिसके आलोक की विराट छाया में उसने आगे बढ़ना सीखा। वाणी की यही पवित्रता कविता है, और इसी पवित्रता से जीवन के धरातल को सजा-सँवारकर कवि समस्त ज्ञेय-अज्ञेय एवं गेय-अगेय आदर्शों को अवतरित करता और मानव को अतिमानव बनाता है। विज्ञान का अतिमानव उसका अहंकार है। कविता के अतिमानव का रूप इससे भिन्न होता है। वह हर दृष्टि से मानव ही होता है। चूँकि मानव ही मानव को प्यार कर सकता है, इसलिए मानवता के सुहाग को ही अतिमानव की संज्ञा दी जाती है। मानव को मानव के रूप में न देखना विज्ञान की माया है। विज्ञान को भी ब्रह्म का पर्याय मानकर लोक-कल्याण के रूप में जीवन में उतारना कविता की विशेषता है। विज्ञान का जहाँ वज्र-प्रहार होता है, कविता वहाँ सृष्टि का नवकुसुम खिलाती है। शब्द के गौरव और वाणी की पवित्रता का ऐसा ही प्रभाव होता है। यंत्र-युग के जादू पर टिके हुए देशों का कविता के प्रति भौतिकवादी दृष्टिकोण वह देश कैसे स्वीकार करेगा, जिसने मानव-जीवन-सौंदर्य को अणु-बम का आहार न मानकर उसकी विश्व-विजयिनी शक्ति से भी अधिक मूल्यवान् माना, और जो विज्ञान के रक्तोन्माद-जनित कोलाहल के बीच भी अपनी वाणी की पवित्रता से कल्पनाओं और भावनाओं के उच्चादर्शों की स्थापना के लिये सतत प्रयत्नशील रहा है?

कविता और मैं

जहाँ तक पुस्तकों के अध्ययन का प्रश्न है, मुझे काव्य के अध्ययन से विशेष रुचि है, और मैं जो भी समय बचा पाता हूँ, उसका अधिकांश काव्य-प्रणयन और काव्य-अध्ययन में लगाता हूँ। कविता के प्रति मेरे इस रुझान का यह अर्थ नहीं है कि मुझे अन्य विषय प्रिय नहीं हैं। जिन विषयों के ग्रहण करने में मेरी बुद्धि समर्थ है, उनका अध्ययन मेरे जीवन का नियम बन गया है। परंतु मैं अपना अधिकांश समय और ध्यान काव्य को देता हूँ। ऐसा लगता है कि काव्यानुराग मेरे अस्तित्व का अवलंब बन गया है, और कविता को मैं अपनी प्रवृत्ति की सबसे मधुर रागिनी मानने लगा हूँ।

वेदांत के अनुसार मनुष्य के शरीर में पाँच संपुट होते हैं, जिन्हें पंचकोश कहते हैं। जैसे अन्नमय-कोश, प्राणमय-कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय-कोश तथा आनंदमय-कोश। शरीर के भीतर आत्मा का जो पहला आवरण है, उसे स्थूल शरीर अथवा अन्नमय-कोश कहते हैं। इसके

बाद के तीन आवरण—प्राणमय-कोश, मनोमय-कोश और विज्ञानमय-कोश—सूक्ष्म शरीर के नाम से जाने जाते हैं। पाँचवाँ आवरण कारण शरीर कहा जाता है। यह वही आवरण है, जिसके द्वारा सृष्टि का प्रकाश सौंदर्य के रंगों में एवं आत्मा का उज्ज्वल प्रकाश कल्पनामय बुद्धि, भावना और अंतर्ज्ञान के संक्षेत्रीय रंगों में भुजायित होता है। मेरे विचार में कविता का संबंध सीधे इस पाँचवें आवरण से है।

मनुष्य हाड़-मांस के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, यह मैं नहीं मानता। वह अपनी वासनाओं की तृप्ति के लिये ही क्रिया-लग्न होता है, यह भी मुझे मान्य नहीं। वह आत्मामय है, और उसका हृदय, मन्दिर की भाँति पवित्र है। शरीर को छोड़कर आत्मा की ओर खिचना और खिच जाना उसकी प्रवृत्ति है। यही कारण है कि वह मुस्किराते हुए फूलों को, तारों-भरे आकाश को, उमड़ती हुई साँवली-सलोनी मेघ-माला को, तुषाराच्छादित पर्वत-शिखरों को तथा उछलती हुई कल-राग-पूर्ण निर्झर-तरंगों को देखकर एवं बिहंगों का कल-कूजन और वृक्षों की मर्मर-ध्वनि सुनकर किसी अनजान दिशा की ओर आकृष्ट होता है। इसी प्रकार वह करुणा और पीड़ा से भी द्रवित होता है। इन दोनों परिस्थितियों में वह कहीं से एक प्रेरणा पाता और कल्याणमूलक आनंद की रचना करता है। मनुष्य की यह देन ज्ञान और बुद्धि के प्रकाश से अलंकृत प्रकृति की श्रेष्ठतम देन से भी बढ़ जाती है। यही देन कला की संज्ञा से अभिहित होती है। मानव-मस्तिष्क का स्थान प्रकृति से ऊँचा है। इसलिये कला का सौंदर्य प्रकृति के सौंदर्य से निराला माना जाता है। काव्य-कला समस्त कलाओं से अधिक विश्वमय और आत्ममय होती है। क्योंकि कविता आत्मा के अमृत से संपृक्त और युग-युगों के विचारों तथा भावों से अनुप्राणित होती है।

कविता किसी सीमा की बंदिनी नहीं है। उसका क्षेत्र विश्व के हृदय की भाँति विशाल है। वह हर जगह व्याप्त है। चाहे ज्योतिः शास्त्र

हो, चाहे विज्ञान, चाहे शिल्प हो, चाहे वास्तु-कला, इतिहास हो चाहे दर्शन, धर्म-शास्त्र हो अथवा नीति-शास्त्र, समाज-शास्त्र हो चाहे अर्थ-शास्त्र, हर जगह कविता के स्पर्श का अनुभव किया जा सकता है। सच तो यह है कि विचार और चिंतन के हर क्षेत्र में एक शाश्वत संकेत मिलता है। यही शाश्वत संकेत कविता है।

कवि का संसार भी इसी भाँति बंधन से परे होता है। वह स्वयं ही निर्माता है, और उसी की इच्छा से उसके विश्व में प्रवर्तन होता है। ध्वन्यालोककार के अनुसार

"अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः;
यथास्मै रोचते विश्वं तथैवेतत्प्रवर्तते।"

कवि के विश्व को मम्मट ने भी काव्य-प्रकाश में नियति-कृत नियम-रहित, अनन्य-परतंत्र, नवरस-रुचिर एवं आह्लादमय माना है। अन्य भारतीय साहित्य-शास्त्रियों ने भी आनंद को ही काव्य-कला का आधार माना है। ऐसे ही आनंद की कल्पना से मुग्ध होकर भर्तृहरि ने कहा था—

"जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।"

मैंने जिस आनंद की चर्चा की है, उसका रूप कल्याणमूलक होता है, क्योंकि कविता जीवन की आलोचना और व्याख्या का व्यक्त रूप मानी जाती है। मैं इस आलोचना अथवा व्याख्या को मात्र आलोचना या व्याख्या नहीं मानता। जीवन की आलोचना एवं उसकी व्याख्या वह चेतना-चमत्कृत अभिव्यक्ति है, जो अपनी ज्वाला से छूकर कविता को अतिजीवन की दिव्य वाणी बना देती है। अर्थात् आदर्श के रूप में अनुभूत यथार्थ जीवन की अभिव्यक्तियाँ भावों और कल्पनाओं के सांचे में ढलकर कविता बन जाती हैं। कविता कल्पना की वाणी में हृदय से बोलती है। उसकी वाणी से बुद्धि का परिष्कार होता है, एवं मानवीय अभिलाषाएँ उदात्त बनती हैं।

रसानुभूति उपयोगिता के आनंद से भिन्न होती है। रसानुभूति जीवन के आयस को स्वर्ण में परिवर्तित करके मन की वृत्तियों को ऊपर उठाती है। यही कारण है, रसानुभूति में जीवन के मूल्य तो मिलते ही हैं, साथ ही सौंदर्य, अमरत्व और अध्यात्म के तत्त्व भी प्राप्त होते हैं। इससे व्यक्तित्व का विस्तार होता है, उसमें गंभीरता आती है, और चंचल मन धीरे-धीरे अपनी अस्थिरता खोकर एकाग्रता से संबंध जोड़ लेता है।

कविता में जो चित्रकारी मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। काव्यांकित चित्रों की अपनी विशेषता है। जब सौंदर्य भावना की स्निग्ध-मधुर ज्योति से प्रक्षालित होता है, तब वह कविता में चित्र बनकर उतरता है। इसी प्रकार जब सौंदर्य बुद्धि के प्रकाश से धुलता है, तब वह कविता में प्रतीक का रूप धारण करता है। विज्ञान की रूखी-सूखी बातें भी कवि की स्वर्णमयी कल्पना के आवरण में उत्कृष्ट कलात्मक चित्र बनकर नखत-पंक्ति की भाँति चमकने लगती हैं। अंतर्ज्ञान, स्वप्न और अभिव्यक्ति का पवित्र समन्वय कविता में पाया जाता है।

संगीत और काव्य को हम गति की कला कह सकते हैं, जिसका सीधा संबंध समय से होता है। संगीत श्रुति-प्रिय होता है, परंतु कविता हृदय से चलकर मस्तिष्क को जगाती है। जिस माध्यम से यह क्रिया संचालित होती है, उसका नाम भाषा है। भाषा के प्राण होते है शब्द, और शब्दों का इतिहास अनंत है। भाषा को मैं मनुष्य के विचारों की अवतार-मूर्ति मानता हूँ। स्पष्ट है, कविता युग-युगों के कूल-कछारों से होकर अविरल रूप से बहनेवाली निर्झरिणी की भाँति है, जिसके सपनों के सौंदर्य में समस्त कलाओं का सौंदर्य प्रतिबिंबित होता है, परंतु जो सबसे भिन्न है। वह हृदय को वाणी देती है और वाणी को हृदय। वह आँखों को भाषा देती है और भाषा को आँखें। वह बुद्धि को हृदय के रंग में रंग देती है। वह स्थूल और सूक्ष्म के बीच महासेतु का काम करती है।

हिंदी-कविता का वर्तमान और भविष्य

काल की तीन अवस्थाएँ हैं—गत, आगत और अनागत, परस्पर भिन्न होते हुए भी बहुत अंशों में अभिन्न हैं। मिटकर अमिट बना हुआ अतीत, काल की छाया में, अस्थिरता में स्थिरता की ओर गंभीर गति से बढ़नेवाले वर्तमान को अपनी चिनगारियों से छूकर नवीन निर्माण के लिए नव-नवीन प्रेरणाएं देता रहता है। भविष्य नव-निर्माण का पर्याय है। वर्तमान वह विधान है जिसके अक्षर अतीत के अनुभव द्वारा विद्युत्कण से लिखे होते हैं। वह एक चित्राधार है, जिसकी रेखाएँ बाह्य और अंतर की प्रेरणाओं से विस्तार पाकर भविष्य का नाम ग्रहण कर लेती हैं। तात्पर्य यह कि वर्तमान का विश्लेषण और भविष्य के रूप की कल्पना करने के पूर्व अतीत पर दृष्टि डालना अनिवार्य-सा हो जाता है।

विचार-जगत् में होनेवाले आवर्तन और विवर्तन, प्रवर्तन और परिवर्तन के आधार पर ही युगों का निर्धारण किया जाता है। सूर्योदय की किरणों की भाँति मानव-मस्तिष्क से विचार-रश्मियाँ फूटती हैं, जीवन के

क्षण-प्रति-क्षण को गति और दिशा देती हैं, अवरोधों और प्रतिरोधों का सामना करती हैं; अनेक परिवेशों, परिस्थितियों और कालान्तरों में अनेकानेक हृदयों के अभिशाप और वरदान का भार वहन करती हुई नदी की वेगवती धारा की भाँति आगे बढ़ती हैं और सूक्ष्म तथा स्थूल दोनों कूलों को स्पर्श करती हुई अपनी चरम अवस्था को पहुंच जाती हैं। चरम अवस्था को प्राप्त होकर विचार-धारा अपनी प्रवाहशालिता खो देती है। वह अतीत की रेखा बन जाती है, एक ऐसी धुंधली रेखा, एक ऐसी चमकती हुई रेखा, जिसके प्रति वर्तमान का श्रद्धापूर्ण हृदय स्वभावतः आकृष्ट हो जाता है। विचार-धारा की इस अवस्था को इतिहास में युगान्त के नाम से पुकारा जाता है।

अतीत के प्रति वर्तमान की श्रद्धा कृतज्ञता का द्योतक है। अतीत के भाव-कोष से वर्तमान को न जाने कितने अनुभव सहज ही प्राप्त हो गये! सुख-दुख के अनुभव, हर्ष-विषाद के अनुभव, उत्थान-पतन के अनुभव, जीवन-मरण के अनुभव। परन्तु, जब वर्तमान का आकर्षण अन्ध-विश्वास और अन्ध-भक्ति का रूप धारण कर लेता है तब मानव के विचार-जीवन में एक ऐसी जड़ता का प्रादुर्भाव होता है, जो समस्त वातावरण को विकृत कर देती है। इसी अवसर पर सत्य, शिव और सुन्दर की सुनहली पुकार को अपनी साँसों की प्रत्येक लहर में लिये रहनेवाले मनीषी प्रकट होते हैं और जीवन की नयी व्याख्या से समाज में व्याप्त जड़ता का परिहार करते हैं। नवीन प्रेरणाएं चेतन के नवोदय का आह्वान करती हैं और नवोदय के द्वारा नवीन विचारों की प्रतिष्ठा होती है। यह नवीन प्रतिष्ठापन युगारंभ का पर्याय माना जाता है।

सामान्यतः भारतेन्दु के समय से वर्तमान हिन्दी-कविता का आरंभ माना जाता है। भारतेन्दु के पहले का हिन्दी काव्य परंपरा के अंध-प्रतिपालन की ओर अविचल आस्था के रूप में प्रकट होने लगा था। रूढ़ि शेष होकर रीतिकालीन प्रवृत्तियां समाज के हृदय में पुरातन के प्रति

अश्रद्धा का भाव फैलाने लगी थीं। तत्कालीन विचार-धारा जड़ता की मरुभूमि में पहुंचकर प्रेरणा का अमृत खो चुकी थी। न केवल युग की व्यक्त-अव्यक्त आकांक्षाएँ, चेष्टाएँ और भावनाएँ प्रत्युत् समाज का सामान्य जीवन भी विविध विधि-निषेधों में जकड़ जाने के कारण कुंठित-सा हो गया था। आत्म-परीक्षण के अभाव में लोक-हृदय परंपरा का बन्दी बन चुका था। भाग्यवाद की प्रवंचना का मायाजाल युग की उद्योगशीलता को अपने में तिरोहित कर प्रगति-पथ पर अभिशाप की भाँति खड़ा था। विचार-जीवन के आधार पर युग-निर्धारण के सिद्धांतानुसार रीति-कालीन विचार-धारा चरम अवस्था को प्राप्त होकर अपना कार्य समाप्त कर चुकी थी। परिस्थिति नवीन का आह्वान कर रही थी। ठीक इसी समय हिन्दी-काव्य गगन में भारतेन्दु का उदय हुआ।

भारतेन्दु ने हिन्दी काव्य को जो नई दिशा दी वह उस प्रेरणा की एक छोटी-सी किरण थी, जिसने आगे चलकर भारतीय विचार-जीवन में युगव्यापी क्रांति उपस्थित कर दी। यह प्रेरणा देश को वरदान के रूप में मिली थी; परन्तु हिन्दी-काव्य को प्रश्न के रूप में मिली। काव्य की स्वर्ण-भूमि पर उतरकर इतिहास ने अपने आश्रयदाता को प्रणाम किया। अतिथि के स्वागत में काव्य ने अपने स्वर्ण-लोक का प्रत्येक द्वार खोल दिया। इतिहास के अधरों पर मुस्कान खेलने लगी। काव्य की आँखों में औदार्य की ज्योति चमक उठी। परंतु कलारानी कुछ न बोली। क्यों? क्या उसका मौन प्रसन्नता का श्लेष था अथवा आशंकित हृदय का करुणा-विकल आश्चर्य? इस प्रश्न का उत्तर न देकर हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों ने आलोचना के आदर्श का उपहास और इतिहास की साम्राज्य-लिप्सा को अक्षुण्ण बनाये रखने का अपराध किया है।

भारतवर्ष में अँगरेजी शासन की स्थापना किस प्रकार हुई, इसका विवेचन इतिहास का विषय है। परन्तु देश के पराधीन हो जाने से

क्षोभ और असंतोष की जो आग धुँआने लगी, साहित्य पर उसका स्पष्ट प्रभाव पड़ा। काव्य कवि के युग की संपूर्ण प्रवृत्तियों से, समस्त भावनाओं से अनुप्राणित होता है। प्रत्येक काव्य में उपस्थित युग की प्रेरणाओं का प्राबल्य होता है; क्योंकि देश और आकाश में समाविष्ट युगव्यापी विचार-धाराएँ प्रत्येक हृदय को संवेदनशील बनाती रहती हैं, प्रत्येक हृदय के कूलों को आन्दोलित और आप्लावित करती रहती हैं। पराभवजनित क्षोभ और असंतोष की लहर से तत्कालीन हिन्दी-काव्य भी अप्रभावित न रहा।

पराधीनता से मुक्ति पाने का प्रथम प्रयत्न—१८५७ का विद्रोह—इस अर्थ में असफल रहा कि जिस उद्देश्य से उसका आरंभ हुआ था, उसकी पूर्त्ति न हो सकी। परन्तु जिस भावना ने चिनगारी बनकर उस अग्नि को प्रज्वलित किया था, उसकी विजय हुई—उस भावना का वेग उत्तरोत्तर बढ़ता गया और आगे जाकर, उसने न केवल हिन्दी-कविता का प्रत्युत् संपूर्ण भारतीय इतिहास का रूप ही बदल दिया।

१८५७ के आन्दोलन ने लोक-हृदय में राष्ट्रीयता की चेतना का संचार किया। गिरी हुई अवस्था के ज्ञान ने जनता को नया दृष्टिकोण दिया। विदेशियों का संपर्क एक नये कुतूहल का कारण बना। अँगरेजी के माध्यम से विश्व के अन्यान्य देशों और उनके नागरिकों के अनन्त भावकोष का पता लगा। परिचय की व्यापकता और विशालता के कारण भारत की पराजय-जनित भाग्यवादी आत्मग्लानि तिरोहित हुई और उसके स्थान पर अदम्य उद्योगशीलता की प्रतिष्ठा की गयी।

मैं आरंभ में ही कह चुका हूँ कि मिटकर अमिट बना हुआ अतीत वर्तमान को अपनी चिनगारियों से छूकर नवीन निर्माण के लिए नव-नवीन प्रेरणाएँ देता रहता है। राष्ट्रीय चेतना को अमृत की आवश्यकता थी और इस अमृत का दान समाज के शिव और अशिव का भार वहन करने वाले अन्तर्दर्शी पुरुषों के द्वारा ही मिल सकता था। जो अमिट

है, वह आहत है। काल के अंधकार को छेदकर जो मानव-पथ पर निरंतर प्रकाश फेंक रहा है, पुरातन का वह रूप त्याज्य नहीं। वह अस्थिर नहीं, स्थिर है। स्थिरता ज्ञान का द्योतक है और उस अग्नि का नाम है जिसकी ज्वाला में मानवी दुर्बलताएँ जलकर राख हो जाती हैं। इस उन्मेषप्रद अमृत को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए दयानन्द, राममोहन राय, रामकृष्ण, विवेकानन्द, रामतीर्थ आदि सांस्कृतिक और धार्मिक पुनर्जागरण का संदेश सुनाने लगे। पद-दलित राष्ट्र के भूत-कालीन आध्यात्मिक उत्कर्ष का व्याख्यान सुनकर अहंस्फूर्ति का अनुभव हुआ और राष्ट्रीय विचार-धारा के प्रतिनिधि ने आह्वान किया—

हम कौन थे क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी,
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्यायें सभी।

प्रतिनिधि कवि का यह आह्वान युग-धर्म की भावना से अवश्य अनुप्राणित था, परंतु इस बात का सूचक भी था कि कालान्तर में कविता को कला का सिंहासन छोड़ना पड़ेगा और राजनीति के निकटतम संपर्क में आकार उसे प्रचार का साधन बन जाना पड़ेगा। परिस्थिति इस धारणा के अनुकूल थी। समुद्र-पार के देशों में विज्ञान प्रगतिशील था। वैज्ञानिक अनुसंधान चमत्कार उत्पन्न कर अखिल विश्व का मन-मस्तिष्क अपनी ओर आकर्षित कर रहे थे। भौतिकवाद का जादू बोलने लगा था। मनन और चिंतन का स्थान परिभ्रमण ने और दर्शन का स्थान राजनीति और इतिहास ने ले लिया था। परिणामस्वरूप जीवन के क्षेत्र से भाग्य-वाद का अनुशासन उठने लगा। अखिल भारतीय कांग्रेस द्वारा चलाये गये स्वतंत्रता आन्दोलन का वेग बढ़ा और पराधीनता के कठोर अभिशाप से मुक्ति पाने के लिए समस्त राष्ट्र संघर्षोद्यत दीख पड़ा।

हिन्दी-काव्य पर इस संक्रांति-काल का भारी प्रभाव पड़ा। कविता का क्षेत्र संकुचित हो गया; क्योंकि इतिवृत्तात्मक प्रवृत्तियाँ प्रबल हो

उठीं। भावावेग को महत्त्व न देकर समय और परिस्थिति को महत्त्व दिया जाने लगा। कहानियों की भाँति कविताएँ भी घटनाप्रधान होने लगीं।

जनता के हृदय तक पहुँचना आवश्यक था। युग की एक ही माँग थी—लोगों में स्वदेशी आन्दोलन का प्रचार। मुद्रण-यन्त्र के आविष्कार ने पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन का साधन उपस्थित कर दिया था। पत्रों का प्रकाशन आरम्भ हुआ और लोक-हृदय तक पहुँचने के लिए कविता का भी उपयोग किया गया। मनहर घनाक्षरी का स्थान हरिगीतिका ने लिया और बरवै का स्थान रोला ने। अलंकारों की चिता सजाकर बुद्धिवाद ने उसकी ओर चिनगारियों से भरा हाथ बढ़ाया। भावावेग की कंपाकुल घड़ियों में अज्ञात लोक से उतरकर जिसने अपने सौंदर्य-किरणों से लोकोत्तर आनंद की शीतल मन्दाकिनी प्रवाहित की थी, जिसने अपनी सुरभित साँसों के स्पर्श से कल्पना को विस्तार देकर रस की रागभीनी सृष्टि की थी, आलंकारिक आचार्यों की वही प्रेयसी प्रचार का साधन बन गयी! इतिहास ने अट्टहास किया; क्योंकि वह उसकी विजय थी। सूर्यास्त की छाया की तरह सौंदर्य मौन रहा और कला ने अपने आँगन के दीपक बुझा दिये। गृह-लक्ष्मी देहरी लाँघ चुकी थी।

भारत की राजनीति आग की भट्टी बनकर धुँआ रही थी। स्वाधीनता-यज्ञ के पुरोधा महात्मा गाँधी आहुतियाँ दे-देकर उस ज्वाला के जगाने की प्रतीक्षा कर रहे थे जिसकी चिटकती हुई चिनगारियाँ दासता की श्रृङ्खला को भस्म कर देतीं। आहुतियाँ पाकर यज्ञ की आग प्रज्वलित हुई। चिनगारियाँ छिटकीं, परंतु नियति के अभिशाप ने संपूर्ण बंधन को क्षार होने से बचा लिया। लगभग इसी समय बंग देश की 'सुजला सुफला' भूमि पर एक क्रांतदर्शी और सर्वद्रक् कवि ने अपनी वीणा बजायी जिसके तारों की झंकार में मानवी वृत्तियों को अन्तर्मुखी बना देने की अलौकिक क्षमता थी। उस क्रांतदर्शी कवि की भुवन-

मोहिनी वाणी ने हिंदी-कवियों का ध्यान आकर्षित किया। नवीन न होने पर भी हिंदी-कवियों को यह वाणी नवीन लगी। हिंदी-काव्य के इतिहास में यह नवीन काल छाया-युग के नाम से अंकित हुआ।

भौतिकवाद के नये प्रयोगों से प्रभावित होकर कुछ आलोचकों ने छायावाद को प्रतिक्रियावाद और पलायनवाद के नाम से पुकारा। उनके कूटानुसार महात्मा गाँधी द्वारा चलाये गये असहयोग आंदोलन की असफलता ने पराजय-जनित नैराश्य की भावना से देश के वायुमंडल को भर दिया जिसके कारण हिन्दी-कवि कठोर वास्तविकता से मुँह मोड़कर किसी शून्य अस्तित्वहीन आकाशीय कल्पना-लोक में भ्रमण करने लगे। अब तो यह मत इतिहास में भी स्थान पा गया है और आज भी, यत्र-तत्र छायावाद की शव-परीक्षा की जा रही है।

मेरे विचार में यह मत हिंदी-आलोचकों के संकुचित दृष्टिकोण का बोलता हुआ प्रमाण है और इसके निरंकुश प्रचार ने छायावादकालीन कलात्मक कृतियों का उचित मूल्यांकन नहीं होने दिया।

महात्मा गाँधी द्वारा संचालित असहयोग आन्दोलन सत्य और अहिंसा पर आधारित था। गाँधीजी सत्य को ईश्वर का रूप और अहिंसा को शक्ति का प्रतीक मानते हैं, और इसी भावना से प्रेरित होकर उन्होंने अपने जीवन को सत्य और अहिंसा की पूजा-वेदी पर समर्पित कर दिया है। वह सत्य ही है, जो हृदय की ध्वनि बनकर उनके जीवन में बार-बार बोला है एवं जिसकी प्रेरणा से राष्ट्र के मंगल के लिए उन्होंने प्राणों की बाजी लगाकर भारी-से-भारी संकट का सामना किया है। और अहिंसा ? वह तो गाँधीजी के अनुसार विश्व-विजयी वीरों का, निर्भीक योद्धाओं का अमोघ अस्त्र है। सत्य और अहिंसा में पराजय अथवा पराजय-जनित नैराश्य का कोई स्थान नहीं। आज भी, जबकि शांति का शत्रु विज्ञान, परमाणु बम के गर्व में फूला हुआ मानवता के सर्वनाश का त्यौहार मनाने को तैयार है, तब अहिंसा के विषय में

गाँधीजी पूर्ववत् दृढ़ हैं । वे कहते हैं—"Non violence and the atom bomb constitute the mightiest forces in the world and before the former the atom bomb is of no effect. The two opposing forces are wholly different in kind, the one moral and spiritual, the other physical and material. The one is infinitely superior to other which by its very nature has an end. The force of the spirit is ever progressive and endless."

सत्य और अहिंसा के प्रतिपादन में गाँधीजी ने गीतोक्त वेदान्त का आश्रय लिया है । वेदान्त आत्मा को अविनश्वर मानता और सत्यरूप ईश्वर के साथ उसका तादात्म्य स्थापित करता है । जब गाँधीजी अहिंसा की आत्मिक शक्ति से तुलना करते और भौतिक बल को नाशवान बताते हैं, तो स्पष्ट रूप से उनका संकेत गीता के इस श्लोक की ओर होता है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥

जो वेदान्त-प्रतिपादित है । स्पष्ट है कि सत्य और अहिंसा के प्रचार द्वारा गाँधीजी यही संदेश देते हैं—'रे मानव ! तू क्यों डरता है, तू क्यों शोक करता है ? तू उस शक्ति का आधार है जिसे न आग जला सकती है, न पानी गला सकता है । तेरे भीतर रहनेवाली वह शक्ति अजेय है, अमिट है । तू भीतर देख तब अपने को पहचानेगा । मृत्यु तेरा शत्रु नहीं, तू मृत्यु का शत्रु है; क्योंकि तू उस अमृत का रक्षक है जिसे संसार जीवन के नाम से पुकारता है ।" महात्मा गाँधी का यह संदेश उस प्रबोध का सूर्योदय है जिसके आलोक में पद-मदित भारतवर्ष ने अपने असली रूप

को देखा, अपने को पहचाना और आत्म-यज्ञ की ज्वाला से लाल होकर आसुरी शक्तियों से लोहा लेने के लिए संघर्षोद्यत हुआ।

यहाँ पर इतिहास-वर्णित एक छोटी-सी घटना की याद आती है। विश्वविजयी सिकन्दर भारतवर्ष के जंगलों में घूमता हुआ सिन्धु नदी के तट पर पहुँचा। जलती हुई बालुका-राशि पर वस्त्र-विहीन तपस्यालीन एक साधु को देखा। उसने सोचा, ग्रीस-निवासी इस विचित्र जन्तु को देखकर प्रसन्न होंगे। साधु से कहा—"तुम मेरे साथ ग्रीस चलो।" साधु ने धीमी-सी मुस्कराहट के साथ उत्तर दिया—"सारा विश्व मुझ में समाहित है। मैं विश्व में समा नहीं सकता। संसार मुझ में है। ग्रीस और रोम मुझ में हैं। सूर्य और तारे मुझ में उदय लेते और अस्त होते हैं।" सिकन्दर ने कहा—"मैं तुम्हें अपार धन-राशि दूँगा। मेरी कृपा से तुम्हारे चरणों में ऐश्वर्य लोटेगा। तुम चलो। मैं समस्त भौतिक विभूतियों का सम्राट् हूँ। मेरी कृपा के एक कण से तुम्हारा वर्तमान रूप बदल जायगा।" साधु ने गम्भीर स्वर से उत्तर दिया—"संसार में जो कुछ है, उसके मूल में मैं ही हूँ। मेरी ही ज्योति की किरण पाकर सूर्य, चन्द्र और तारे देदीप्यमान हो रहे हैं। तुम्हारी रत्न-राशि में मेरी ही चमक है। मैंने जिसको सौन्दर्य और प्रकाश का गौरव और गर्व की भीख दी, उसके सामने हाथ पसारना मुझे स्वीकार नहीं।" सिकन्दर की भृकुटी तन गयी, विश्व-विजयी के अनुरोध का यह अपमान! तलवार निकालकर साधु का मस्तक छिन्न कर देने के लिए वह आगे बढ़ा। साधु ने यह देखकर अट्टहास किया और कहा—"किसको मारने के लिए लपके हो? मुझे? वह कौन-सा अस्त्र है, जो मुझे आहत कर सकता है? वह कौन-सा दुख है जो मुझ से मेरा सुख छीन सकता है? मेरा आनन्द चिरंतन है। वह कल था, आज है, और कल भी रहेगा। मैं वही हूँ जो त्रिकाल में व्याप्त है। शक्ति बनकर तुम्हारे हाथों को मैं ही गति दे रहा हूँ। ओ भोले सम्राट्! जब तुम्हारे शरीर का नाश हो जायगा तब भी मैं इसी प्रकार

मुस्कराता रहूँगा।" यह सुनकर सिकन्दर स्तब्ध हो गया और उसके हाथ से तलवार गिर पड़ी। सत्य और अहिंसा के सामने भौतिकता-वाद का समस्त अभिमान चूर-चूर हो गया। पशु-बल ने शीश झुका दिया।

फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि सत्य और अहिंसा के आधार पर चलाये गये असहयोग-आन्दोलन की असफलता से पराजय की भावना और निराशा का प्रचार हुआ। भारतीय राजनीति के क्षेत्र में सत्य और अहिंसा का सिद्धान्त आज भी चट्टान की तरह अटल अचल है। अगस्त १६४२ के देशव्यापी आन्दोलन का आधार यही सिद्धान्त था। सत्य और अहिंसा इन्हीं दो शब्दों में भारतीय स्वाधीनता-संग्राम का संपूर्ण इतिहास निहित है। सत्य मारा नहीं जा सकता, अहिंसा झुक नहीं सकती। यदि सत्य और अहिंसा के सिद्धान्त में तनिक भी दुर्बलता रहती, तो इसे चालीस करोड़ भारतीयों के भाग्य के साथ खेलने के लिए नहीं छोड़ दिया जाता।

हिंदी-कवियों ने असहयोग-आन्दोलन की असफलता से निकली हुई राजनीतिक पराजय की भावना को कहीं नहीं स्वीकार किया है। बल्कि सत्य और अहिंसा में उनका विश्वास बढ़ता ही गया है। एक-दो उदाहरण इसके स्पष्टीकरण के लिए आवश्यक हैं:—

ढीठ सिपाही की हथकड़ियाँ, दमन-नीति के वे कानून
डरा नहीं सकते हैं हमको यदपि बहाते प्रतिदिन खून
हम हिंसा का भाव त्यागकर विजयी वीर अशोक बनें
काम करेंगे वही कि जिसमें लोक और परलोक बनें

—सुभद्राकुमारी चौहान

है अपूर्व यह युद्ध हमारा, हिंसा की न लड़ाई है
नंगी छाती की तोपों के ऊपर विकट चढ़ाई है

तलवारों की धार मोड़ने गर्दन आगे आयी है
सिर की मारों से डंडों की होती यहाँ सफाई है
ऐसी-वैसी यह न लड़ाई, महा-समर मरदानों का
जिसमें अंत नहीं आहुति का, प्राणों के बलिदानों का !

—नेपाली

लिखा रहे जगती-तल में वह सत्याग्रह का साका
हाथों में हथियार न थे, हाँ बस थी यही पताका
रोक न सका इसे बढ़ने से लोहे का भी नाका
चौंक चमत्कृत अखिल विश्व ने नया तर्क-सा ताका

—मैथिलीशरण गुप्त

अपने 'पराजय-गीत' में भी 'नवीन' अपराजित की तरह बोलते हैं—

अरे पराजित को रणचंडी के कुपूत हट जा हट जा,
अभी समय है, कह दें, माँ मेदनी जरा फट जा, फट जा।

—नवीन

इस प्रकार हम देखते हैं कि छायावाद के विरोधियों का यह आक्षेप कि छायावाद नैराश्यमूलक था एकदम निराधार है।

छाया-काल के पहले की हिंदी-कविता प्रचार का साधन बनकर इतिहास के खँडहर की पुकार में परिवर्तित हो चुकी थी। उसमें चेतना की अँगड़ाई थी। परन्तु आत्म-परीक्षण की प्रवृत्ति का अभाव था। राजनीति के क्षेत्र में दर्शन की किरणों से सजाकर धर्म का प्रतिष्ठापन करनेवाले महात्मा गाँधी के आन्दोलन ने अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों को जगाया। यही काम बंगाल के उस क्रांतदर्शी कवि की वाणी ने भी किया। यह कोई अभूतपूर्व घटना न थी। भारतवर्ष की सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक उत्क्रांतियों के इतिहास से जो परिचित हैं, उन्हें ज्ञात होगा कि राजनीतिक और धार्मिक अशांति से जब-जब देश विकल

हुआ, समाज विक्षुब्ध हुआ, तब-तब मानव-मंगल का मंत्र फूँकनेवाले विचारकों ने आध्यात्मिक उत्कर्ष का संदेश दिया, जिसके फलस्वरूप पद-दलित राष्ट्र के प्राणों में नयी आशा, हृदय में नया उत्साह, मन में नये स्वप्न और नेत्रों में नयी ज्योति आयी। राजनीति के क्षेत्र में धर्म और दार्शनिक सिद्धान्तों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से निकले हुए सत्य और अहिंसा के नवीनतम प्रयोग ने नयी दिशा की ओर संकेत किया। विचार-जीवन में आध्यात्मिक प्रवृत्तियों का पुनरुत्थान हुआ जिसके कारण काव्य की भूमि जीवन-प्रेरक तेज से आलोकित हुई।

छायावाद के मूल में वह विचार-धारा नहीं जिसके अनुसार सब कुछ छाया है, असत्य है, मिथ्या है। वस्तुतः छायावाद यथार्थवाद का काव्यात्मक रूप है। जिसे हम असत्य समझते हैं, मिथ्या कहते हैं एवं जिसकी तुलना छाया से करते हैं, उसके परे जो सत्य है अर्थात् जो है, वही छायावादियों का लक्ष्य है। छाया सापेक्ष शब्द है। छायावादी कवि छाया के आधार से उस सत्य को पाने की चेष्टा करता है, जो एक होकर अनेकानेक रूपों में व्यक्त हुआ है, जिसका आनन्द प्रत्येक रूप में तरंगित हो रहा है एवं संसार जिसका आत्म-प्रकाश है।

छायाकालीन काव्य, कला के ध्वजीकरण और ध्वजोत्थान का प्रमाण तो है ही, उसमें आत्म-बलिदान और आत्मोत्सर्ग की भावनाओं का भी प्रचुर समावेश है। दर्शन के पराग से विभोर हिंदी-कविता अन्तर्दर्शन की लहरों पर तिरकर मानव-जीवन की चिरंतन अभिलाषाओं और जिज्ञासाओं की विपंची बन गयी। सुख-दुख, विरह-मिलन, आशा-निराशा, घृणा-प्रेम, जीवन-मरण. ये मानव-जीवन की चिरंतन समस्याएँ हैं, और जैसे शांति-काल में वैसे ही क्रांतिकाल में ये समस्याएँ अपनी संपूर्ण कठोरता, गहनता और गम्भीरता के साथ विद्यमान रहती हैं। इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। भाव-प्रवणता तो कवि का गुण है ही; युग के सर्वतोमुखी विकास ने तत्कालीन कवियों को चिंतनशील भी बना दिया था। परि-

णामस्वरूप कविता में दैनिक जीवन की घटनाओं के अतिरिक्त अतीत की स्मृतियाँ और भविष्य की कल्पनाएँ भी रूप और आकार पाने लगीं। जीवन और जीवनान्तर की रहस्यात्मकता की कलात्मक व्याख्या होने लगी।

हमारे शास्त्रकारों ने जीवन को शाश्वत रूप में देखा है और उसे अमृत का पर्याय माना है। हमारी श्वासों का केवल वर्तमान से ही संबन्ध नहीं। उनमें अतीत की प्रेरणा है और भविष्य के लहराते हुए समुद्र को अपने में समाहित कर लेने का अदम्य उत्साह। वे त्रिकाल के सत्य को अपने प्रत्येक स्पंदन में छिपाये, जीवन को आगे बढ़ाये लिये जा रही हैं। काल के पथ पर जीवन आगे बढ़ता जा रहा है, नियति पीछे हटती जा रही है। जीवन बढ़ता जायगा; क्योंकि आगे बढ़ना उसका स्वभाव है। नियति पीछे छूट जायगी, जीवन आगे बढ़ जायगा। कार्य-कारण की शृंखला उसे रोक नहीं सकती। छायावादी कवि ने इसी सत्य को नये ढंग से नवीन रूपकों के सहारे जनता के सामने रक्खा। समस्त छायावादी साहित्य सत्य के अनुसंधान का इतिहास है। उसके पीछे वही प्रेरणा है जिसने स्थूल को गति दी और गति को जीवन का शाश्वत प्रवाह बन जाने की उमंग। उसके मूल में वही अन्तर्मुखी जिज्ञासा है, जो प्रलय के कोलाहल में भी हृदय को संवेदनशील बनाये रखने के लिए सचेष्ट रहती है। उसके आधार में वही सत्य है, जो व्यष्टि की झंकार से समष्टि को मुखरित कर देता है एवं जो विश्व की विभिन्नताओं के बीच तात्त्विक अभिन्नता का प्रकाश विकीर्ण करता है।

जीवन को गति और गति को गंभीरता देने के लिए भीतर की ओर देखना अत्यंत आवश्यक है। जब मनुष्य भीतर की ओर देखता है तब वह भीतर की वाणी सुनता है। अन्तर्वाणी उस शक्ति का नाम है जिसका तनिक-सा स्पर्श पाकर तुनुक-सी श्वासें भी तूफान को सँभाल लेती हैं, जिसके संकेतमात्र से समुद्र खौलने लगता हैं, आग्नेय पर्वत

दहल उठते हैं । अपने में ही अग्निपुंज है, एक बार उकसाना है, छायावादी कवि इसे बल और विश्वास का सिद्धांत मानता है ।

स्वल्प समय में ही छायावाद हिंदी का स्वर्ण-युग बन गया । छायाकाल की कविताओं पर हिंदी को गर्व है । इन कविताओं के बल पर वह संसार के किसी भी सुविकसित और सुसंपन्न भाषा-साहित्य से होड़ ले सकती है । छायावाद का उत्कर्ष—सुशोभन प्रभात के पद्मराग की भाँति, मधुर वसंत की मुस्कान के समान, शीतल गंगा की पावन जलधार के समान, प्रशस्य हिमप्रस्थ के शुभ गौरव के समान है । सौन्दर्य संगीत बनकर उमड़ने लगा । कला ने अपने आँगन के बुझे हुए दीपों को फिर से जला लिया । परन्तु इतिहास की आँखों से अङ्गार बरसने लगे !

आरंभ में मैं कह चुका हूँ कि जब एक विचार-धारा चरम अवस्था को प्राप्त हो जाती है तब उसका कार्य समाप्त हो जाता है और नवयुग का प्रवेश होता है । परंतु छायावाद के पीछे आनेवाला युग इसका अपवाद है । छायावाद का वृक्ष पल्लवित और पुष्पित ही हुआ था । वह फलित हो नहीं पाया था कि प्रगतिवाद उमड़ पड़ा । भारतेन्दु के बाद हिंदी कविता का राजनीति के साथ अटूट सम्बन्ध जुड़ गया । आरंभ में उसने राजनीति का विरोध करना छोड़ा । किंचित् समयोपरान्त वह राजनीति की सहगामिनी बनी; फिर कालान्तर में उसकी अनुगामिनी बन गयी । जिस दिन हिंदी-कविता ने राजनीति का दासत्व स्वीकार किया, उसी दिन प्रगतिवाद का जन्म हुआ । इसके स्पष्टीकरण के लिए फिर इतिहास की ओर झुकना पड़ता है । भारतीय राजनीति के क्षेत्र में घटना-चक्र प्रबल वेग से घूम रहा था । जनमन में राष्ट्रीय चेतना बरसाती नदी का रूप धारण कर चुकी थी । रूस का साम्यवाद देश और काल की सीमा लाँघकर दूर-दूर तक पहुँच चुका था । भारतवर्ष में भी उसकी लहर उफनाती हुई पहुँची । हिन्दी-कवि उसके आह्वान को सुनकर उसकी ओर आकर्षित हुए । छायावाद कल्पना को विस्तार

और वाणी को विदग्धता दे चुका था। भाषा पहले की तरह क्लीब और अशक्त न थी। अभिव्यंजना की शैली प्रौढ़ हो चुकी थी। लाक्षणिकता का प्रयोग आकर्षण का केन्द्र बन चुका था। भूमि तैयार थी। हमारे तरुण कवियों ने साम्यवाद का स्वागत किया; क्योंकि भारतीय राजनीति द्वारा वह समादृत हो चुका था। साम्यवाद भारतवर्ष के लिए कोई नया सिद्धांत न था। हाँ, वह नया परिधान धारण कर अवश्य आया था। भारत की पुण्य भूमि पर जिस साम्यवाद का अभ्युदय हो चुका है, उसने हमें अमृत का संदेश और 'मा शुचः' का मंत्र दिया था। नये साम्यवाद ने मृत्यु के प्रति भय उत्पन्न किया और शरीर के प्रति मोह। मोह के द्वारा वासना को स्फूर्ति मिली। परन्तु हमारे कवियों ने इसकी ओर ध्यान न दिया।

राजनीतिक जागरण के युग में पत्र-पत्रिकाओं की बाढ़ आ जाती है। पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा प्रचार होता है और प्रचार क्रांति तथा युद्ध को सफल बनाने का अचूक साधन है। छाया-युग से लेकर आज तक, राजनीतिक दृष्टिकोण से भारतवर्ष अत्यंत विक्षुब्ध रहा। राष्ट्रीय चेतना प्रबल से प्रबलतर और क्रांति की भावना उग्र से उग्रतर होती गयी। पत्र-पत्रिकाओं के प्रति जनता की अभिरुचि बढ़ गयी जिसके फलस्वरूप पत्र-पत्रिकाओं की संख्या में पर्याप्त अभिवृद्धि हुई। कुछ पत्र-पत्रिकाएँ व्यापारिक दृष्टिकोण से निकाली गयीं और कुछ उनके द्वारा, जो राजनीतिक नेता न बन सके। संपादन का कार्य भी अधिकतर उन्हीं लोगों के हाथों में रहा जो राजनीतिक विचारों का प्रचार चाहते थे। इसमें सन्देह नहीं कि पत्र-पत्रिकाओं के बाहुल्य से राष्ट्रीय विचारों का अत्यधिक प्रचार हुआ; परन्तु कविता गाँधी टोपी बन गयी। जिस प्रकार गाँधी टोपी पहनकर एक अनधिकारी व्यक्ति भी सभा-मंच पर सभापति के निकट स्थान पा लेता है, उसी प्रकार राजनीतिक विचारों को पद्य-बद्ध कर, कवि-कर्म को न जाननेवाला व्यक्ति भी, क्रांतिकारी

कवि और महाकवि बन गया। शुद्ध साहित्य और कला-सम्बन्धी प्रश्नों का भी राजनीतिक विचार-विन्दु से अध्ययन, अनुशीलन, परिशीलन, विश्लेषण और विवेचन होने लगा। सारी राजनीतिक समस्याएँ कविता का विषय बन गयीं। कार्ल मार्क्स के विचार-सूत्रों को लेकर बौद्धिक युद्ध आरंभ हुआ जिसके फलस्वरूप कांग्रेस, साम्यवादी, भारतीय समाजवादी और रायवादी दल स्थापित हुए। इन दलों से सम्बन्ध रखनेवाली बात भी काव्य में स्थान पाने लगीं।

मैं पहले कह चुका हूँ कि भारतेन्दु के बाद हिंदी-कविता कला के सिंहासन से उतार दी गयी और उसके अलंकार छीन लिये गये। छायायुग के संवेदनशील और भाव-प्रवण कवियों ने कल्पना की पलकों से कविता के धूलधूसरित शरीर को पोंछा और कला की रानी को फिर सिंहासनासीन किया। परन्तु शीघ्र ही राजनीति का जादू प्रबल हो उठा और एक बार फिर कविता को अपना राज-सिंहासन छोड़ना पड़ा। इस बार अलंकारों के साथ-साथ उसके वस्त्र भी छीन लिये गये। आज वह अपनी लाज ढँकने में भी असमर्थ है। कविता का यही चीर-हरण प्रगतिवाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

भारतवर्ष की स्वाधीनता के लिए अपना सर्वस्व बलिदान कर देनेवाले सुभाष बोस ने बर्मा में गाँधी जयन्ती के अवसर पर कहा था— "इस क्षितिज के पार, इन बल खाती हुई नदियों और लहराते हुए जंगलों के पार हमारी स्वर्णभूमि है, हमारे सपनों का देश। वह देश संसार का सबसे सुन्दर देश है, उसके आकाश में चाँद अजब रोशनी करता है; उसके पेड़ की डालों पर पक्षी अजब मिठास से बोलते हैं और उन पेड़ों की छाँह में बैठकर वहाँ के ऋषियों ने जीवन के विचित्र रहस्य बताये हैं।"

परन्तु देश के भीतर रहनेवाला और अपने को क्रांति का अग्रदूत माननेवाला कवि मास्को का स्वप्न देखता है, वहाँ के आकाश में

उगनेवाले लालसितारों की बात सोचता है और रूसी संघवादियों के चरणों में लाल सलाम भेजता है। वह गाता है—'मास्को अभी दूर है'—'चली जा रही है बढ़ी लाल सेना।'

यह हमारे सांस्कृतिक उत्कर्ष का चिह्न है अथवा दासत्व और नैतिक पतन का लक्षण, इसका निर्णय तो आनेवाली पीढ़ी करेगी। परन्तु यह हम अवश्य कहेंगे कि आज जो कविता हमें मिल रही है, वह हमारी प्रवृत्ति के विपरीत है। हम दूसरों की पितृभूमि को आदर की दृष्टि से देख सकते हैं, परन्तु पुकार सुनेंगे अपनी ही मातृभूमि की। हमारी कविता में हमारी मातृभूमि का स्वर हो और उस स्वर में हमारे प्राणों की झंकार। अपनी भावनाओं में हम अपने हृदय को देखें और अपने हृदय में समस्त संसार के राशि-भूत मंगल को। हम अपनी अन्तर्वाणी की पुकार से चेतना की प्रत्येक श्वास को जगावें, चेतना के दीप में हम अपनी भावनाओं को वर्त्तिका बनाकर जलावें। इस आत्म-यज्ञ की ज्वाला से जो प्रकाश निकलेगा, उसमें हम सत्य और असत्य को, शिव और अशिव को, सुन्दर और असुन्दर को पहचान लेंगे। परिचय का वह प्रकटीकरण सच्चा प्रगतिवाद होगा।

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक फ्रायड के सिद्धांतों का अति-आधुनिक कवि पर बड़ा भयंकर प्रभाव पड़ा है। जिस अश्लीलता के नाम पर शृंगार-कालीन कविता का लोगों ने वहिष्कार किया, वही आज हिंदी कवि की लाड़ली बनकर कविता के क्षेत्र में मनमाने ढंग से नाच रही है। शृंगारकालीन कवि महलों में रहनेवाली 'असूर्यम्पश्याओं' के नख-शिख का वर्णन करता था। अतिआधुनिक कवि झोपड़ियों के अन्धकार में अपनी लाज को छिपाकर रखनेवाली नारियों के अर्द्धनग्न शरीर का। कल की कामुक आँखें आज चिकित्सक की आँखें बन गयी हैं!

यह सावन की अनमोल रात
इस प्रेरित लोलित रति-गति में

जग झूम-झूमकता विसुध गात
गोरी बाहों में कस प्रिय को
कर दूं चुम्बन से सुरास्नात

अथवा—

उन्नत पुलकित उमड़े उरोज
यौवन उमंग उद्गम अधीर
छवि-सर पर ज्यों फूले सरोज

अथवा—

अर्द्ध नग्न पड़ी अपने पलंग पर
कर देती समर्पित सोल्लास अपना शरीर
उस मनहूस को, खूसट की ठूंठ को
जो तुम्हारी जाँघ और पिंड़लियों की सख्ती पर
मस्त हो कूद बनमानुष-सा जानवर-सा काँपता।

अथवा—

वही जो जा रही आँचल दबाए
कुएँ के पास
यौवन की बहारों को समेटे
कि जिसकी छातियाँ हैं
अभी उठती उभरती
कच्ची नासपातियाँ हैं
और काठ की कठोरता है जिनमें
अभी तक जिन पर
खरखराते और रुखड़े
कुदाली और हँसिया के ठेलेदार
हाथ नहीं हैं पड़े।

अथवा—

जिनकी छातियाँ
बन गयीं बैसाख की जुत्राई ढली ककड़ियाँ
कठोरता तो दूर
दबाने पर सट जाती हैं—एकदम
पोर दोनों उँगलियों की
और फिर
वह आने से पहले गुजरती हुई जवानी
(ज्यों गोदावरी की बाढ़ का पानी)
कट गयी
जमादार, खानसामों, ठाकुरों की गोद में—

जैसी रचनाएँ कुछ के रूप में प्रगतिवाद द्वारा हमें मिली हैं। जिसकी समस्त गति का अन्त नारी पर आकर होता है, जो नारी के वर्णन में उद्दीपन का आरोप कर मानसिक दुराचार को संतुष्ट करना चाहता है, जो स्त्रीमात्र को परकीया के रूप में देखने का दुस्साहस करता है, वह उच्छृङ्खलतावाद हो सकता है; परन्तु जीवन की समस्याओं को सुलझानेवाला प्रगतिवाद नहीं कहा जा सकता। समाजवादी अथवा संघवादी विचार के अनुसार प्रगतिवादी कवि यथार्थवाद का चित्रण करता है। तो क्या वासना और विलास का चित्रण ही यथार्थवाद है ? यथार्थवाद भी अमर्यादित रूप में विलास-भावना के चित्रण का अधिकार नहीं देता। अनभिप्रेत अश्लीलता प्रगतिवादी काव्य का कलंक है।

कला सत्य के शिवालय की दीप-शिखा है, जिसके द्वारा सत्य के स्वरूप का प्रकटीकरण होता है, विकृतिकरण नहीं। वह मानव-भावना को व्यक्त करती है। मानवता को सत्य, शिव और सुन्दर की ओर बढ़ाने के उद्देश्य से न कि उसे कलंकित करने के लिए। कवि कला का पुजारी होता है। कला सत्य का समर्थन करती है। सत्य सदाचार का दूसरा

नाम है। सदाचार की अवहेलना कर कलाकार कला का कलंक मात्र रह जाता है।

छन्दों की समस्या भी अत्यन्त विचारणीय है। मैं अमिताक्षर छन्द अथवा मुक्तवृत्त का विरोधी नहीं हूँ। आज से लगभग १५ साल पहले 'माधुरी' में अपने विचार प्रकट कर चुका हूँ। मुक्तवृत्त में अत्युत्कृष्ट काव्य का निर्माण हो सकता है। निराला की कृतियाँ इसका प्रमाण हैं। छन्दों के क्षेत्र में नये प्रयोग निन्दनीय नहीं कहे जा सकते। सत्य तो यह है कि प्रत्येक भाषा में छंद-संबंधी नये प्रयोगों ने अमर साहित्य का निर्माण किया है। परंतु मैं उस संकट की ओर संकेत करना चाहता हूँ, जो फिल्मी गीतों के रूप में हिंदी पाठकों के सामने आ उपस्थित हुआ है। फिल्मी गीत न तो मुक्तवृत्त में लिखे गये होते हैं, न छंद के नियमों के अनुसार। शब्दों के सौंदर्य की मात्रा को चिता पर फूँककर जिस गीत का निर्माण किया गया हो, वह नया प्रयोग कभी नहीं कहा जा सकता। टेढ़ी-मेढ़ी लकीरें स्वरित होकर गली गीत बन सकती हैं; परंतु वे साहित्य के गौरव की किरणमाला कभी नहीं बन सकतीं। आधुनिक कवि फिल्मी गीतों से बहुत प्रभावित हुआ है। परंतु इस अमंगलकारी घटना को रोका नहीं जा सकता था। पहले मित्रों की गोष्ठी में कविताएँ पढ़ी जाती थीं। आधुनिक काल में कवि सम्मेलन ने गोष्ठी का स्थान लिया और कविता गाई जाने लगी। परंतु कविता में कविता-तत्त्व तो रह नहीं गया था जिसके बल पर वह स्वर की लहरों पर उतर कर श्रोताओं का मन मोह लेती। रसात्मकता और ध्वन्यात्मकता खोकर वह विशुद्ध राजनीति बन गई थी। इसलिए आधुनिक कवि का झुकाव लय की ओर हुआ और फिल्मी गीतों के तर्ज पर कविताएँ लिखी जाने लगीं। एक-दो उदाहरण देना अनुचित न होगा।

जब घर में लगी आग सभी वंशी बजायें
इस देश की संतान को भगवान बचायें—नेपाली

(यह 'घर-घर में दिवाली है, मेरे घर में अन्धेरा' की नकल है।)

जमीं हिल रही थी जहाँ हिल रहा था—दिनकर

ज़मीं तो जमीं आसमाँ जल रहा है (बाबर फिल्म)

शब्दों की शालीनता और सहनशीलता के प्रति शब्दकारों का यह व्यभिचार साहित्यिक सन्निपात ही कहा जायगा, छंदों के विकास का इतिहास नहीं।

कविता का विषय क्या हो—यह प्रश्न भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। परंतु इसका उत्तर देने के पूर्व हम एक दूसरे प्रश्न की ओर संकेत करना चाहते हैं। वह प्रश्न है, क्या क्रांतिकाल में स्थायी साहित्य का निर्माण हो सकता है ? युग धर्म की बात मैं मानता हूँ। मैं यह भी मानता हूँ कि पराधीन देश एक ही प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ता है; उसकी खोई हुई स्वाधीनता किस प्रकार मिल सकती है, रूठी हुई भाग्य-लक्ष्मी किस प्रकार मान सकती है। इस समस्या को सुलझाने में यदि दासत्वप्राप्त देश अपनी सारी शक्ति लगा दे, अपने समस्त साधनों का उपयोग करे तब भी उसे दोष नहीं दे सकते। परन्तु युग-धर्म का अर्थ युग-विशेष का धर्म नहीं होता। युग-धर्म से युग युग तक जीवित रहनेवाले धर्म का बोध होता है; क्योंकि तत्त्व के अमिट रूप का नाम धर्म है। यह नहीं कि वर्तमान युग में ही पराधीनता को पाप समझना चाहिये; यह नहीं कि स्वदेश-प्रेम वर्तमान युग का ही धर्म है। प्रत्येक युग में, प्रत्येक देश में, पराभव, पराजय, पराधीनता पाप मानी गयी है, प्रत्येक काल में स्वदेश-प्रेम आदर्श धर्म समझा गया है। वस्तुतः युग-धर्म के पालन का अर्थ है उन शक्तियों का विकास जिनके द्वारा विचार-जीवन के सनातन तत्व की रक्षा की जा सकती है; उन भावनाओं की सृष्टि, जो संवर्ष के बीच भी मानव-हृदय को संवेदनशील बनाये रहती हैं एवम् उन अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों का उन्मेष जिनके उज्ज्वल आलोक में मनुष्य अपने वास्तविक रूप को देखता और अपने को पहचानता है। संक्रांतिकाल अस्थिरता का

द्योतक है। अस्थिरता की छाया में दौर्बल्य की संभावनाएँ आकार ग्रहण करती हैं। अन्तर्दर्शन समस्त दुर्बलताओं का परिहार करता है। चिंतन और दर्शन स्थायी साहित्य के गुण हैं। क्रांति ध्वंस की आग सुलगाती है; परंतु आगे की बात नहीं सोचती। ध्वंस और नाश के बाद भी 'कुछ' शेष रह जाता है। यह 'कुछ' वही भावना है, जो धर्म-शास्त्रों में ईश्वर-तत्त्व, दर्शन में सत्य और इतिहास में काल के नाम से प्रसिद्ध है। ध्वंस मृत्यु का पर्याय है। मृत्यु विष है। विष के परिहार के लिए अमृत की आवश्यकता होती है। अमृत स्थायित्व का बोधक और जीवन का पर्याय है। जीवन आगे की बात सोचता है; क्योंकि चिरंतन प्रवृत्तियाँ उसके निर्माण का आधार होती हैं।

मनुष्य अपने हृदय को, अपने मन को और अपने स्वभाव को भूल नहीं सकता। क्रांतिकाल में भी मनुष्य सपनों के साथ खेलता है, वेदनाओं के साथ रोता है और सुख की छाया में बैठकर आनन्द अनुभव करता है। उसकी इच्छाएँ और आशाएँ कभी उसका साथ नहीं छोड़तीं। यह जीवन का शाश्वत सत्य है। यही शाश्वत सत्य काव्य का आधार है और काव्यगत रस का मूलस्रोत है।

प्रत्येक काव्य में उपस्थित युग की अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी प्रवृत्तियों का प्रभाव परिलक्षित होता है। छायावाद की कविताओं में अन्तर्वृत्तियों का कलात्मक चित्रण और स्थूल से ऊपर उठकर सूक्ष्म की ओर बढ़ने का संगीतमय औत्सुक्य पाया जाता है। अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, दृश्य और अदृश्य का दार्शनिक विवेचन एवं सात्त्विक सिद्धांतों का निरूपण जनसाधारण के लिए उतना आकर्षक नहीं होता, विशेषकर जब देश और काल, परिस्थिति और परिवेश विक्षुब्ध और अशान्त रहते हैं तब बहिर्मुखी विचार ही प्रमुख हो जाते हैं। साहित्य को अपनी सार्थकता की रक्षा के लिए युग के साथ चलना ही पड़ता है यद्यपि उसका अस्तित्व और दीर्घ जीवन दूसरे तत्वों पर अवलम्बित रहता है।

अति आधुनिक युग राजनीतिक उथल-पुथल का युग है। जनता के आर्थिक शोषण के प्रति प्रायः सर्वत्र क्षोभ और असंतोष की लहर दौड़ रही है। अतएव अति आधुनिक काव्य पर इन घटनाओं का प्रभाव पड़ना आवश्यक है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि राजनीति और समाजशास्त्र के पीछे-पीछे चलनेवाली कविता ही कविता कही जा सकती है। जीवन की आर्थिक समस्याएँ और राजनीतिक पराधीनता से सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्न अत्यंत भयंकर रूप धारण कर चुके हैं। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि हम कविता में सिर्फ राजनीतिक क्रांति और आर्थिक शोषण के प्रति विद्रोह की भावना का ही समावेश करें। हम मानते हैं कि दिल्ली चलना आवश्यक है; परंतु हम चाहते हैं कि दिल्ली पहुंचकर वहाँ हम युगों तक डटे रहें। हम चाहते हैं कि हममें दिल्ली पहुंचने और वहाँ युगों तक डटे रहने की—दोनों शक्तियाँ प्रबल हो उठें और इन दोनों शक्तियों के आशीर्वाद का आलोक हमारे काव्य को अनुप्राणित करे।

रोटी की समस्या ही सब कुछ नहीं है। सर्वहारा के भी सपने हैं, आशाएँ हैं, कोमल-कोमल अभिलाषाएँ हैं, उमंगें हैं। वह भी जब दिन-भर का थका-माँदा संध्या को घर लौटता है, तो देहरी पर बैठकर दीपक की धीमी मुस्कराहट में किसी अज्ञात आनन्द-लोक की कल्पना करता है। वह भी हृदय रखता है जिसका हम अपमान नहीं कर सकते।

शक्ति के दो रूप होते हैं। एक ध्वंसात्मक, दूसरा सर्जनात्मक। असत् को मिटाना ध्वंसात्मक शक्ति का काम है और सत्य का प्रतिष्ठापन सर्जनात्मक शक्ति का काम है। हम मानें चाहे न मानें, परंतु आदि काल से ही ये दोनों शक्तियाँ स्थूल विश्व में काम कर रही हैं। संसार का अस्तित्व इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। हम मानते हैं कि भारतीय जीवन कई दृष्टियों से गतिहीन हो गया है। इस गतिहीनता को दूर भगाने के लिए क्रांतिवादी भावनाओं का प्रचार करनेवाले कलाकारों से हमारा कोई मतभेद नहीं। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि सर्जनात्मक शक्ति में विश्वास

रखनेवाले कलाकार निश्चेष्ट होकर बैठ जायँ। सर्जन में 'सुंदर' समाविष्ट है। सर्जन का अर्थ ही है सौंदर्य का आरोप। सौंदर्य के आरोप से जीवन के कला-पक्ष का निर्माण होता है। जीवन का कला-पक्ष वास्तविक जीवन का संगीतात्मक रूप है। रोटी की समस्या भी जीवन को सुन्दर बनाने की ही समस्या है। सौंदर्य के निर्माण-कार्य में, यदि अंगार, तूफान और भूचाल की आवश्यकता पड़ती है, रूढ़ियों को उखाड़ फेंकने के लिए, तो कल्पना की किरणों और स्वप्नों की रंगीन छाया की आवश्यकता होती है, नये संसार को सजाने के लिए। ऐसी किरणें और ऐसी रंगीन छाया सर्जनात्मक शक्ति में विश्वास रखनेवाला कलाकार ही दे सकता है। विचार-जीवन में दोनों की संधि उपस्थित युग की आवश्यकता है।

साहित्य समाज का दर्पण है, जिसमें युग की समस्त विचार-धाराओं, सिद्धान्तों तथा भावनाओं के उत्थान पतन का चित्र देखा जा सकता है। प्रगतिवादी कहते हैं कि यदि साहित्य समाज का दर्पण है, तो समाज के हाहाकार का साहित्य निरादर कर नहीं सकता। प्रगतिवादी छायावादी की अवहेलना करता है, उसे प्रतिक्रियावादी कहता है; क्योंकि उसकी दृष्टि में छायावादी समाजव्याप्त हाहाकार का निरादर करता है। जैसा हम पहले कह चुके हैं, प्रगतिवादियों की दृष्टि में आत्मा का कोई महत्व नहीं। जड़-द्रव्य ही सब कुछ है। मन भी स्थूल द्रव्य ही है। उनके विचार-जीवन में व्यक्तिगत भावना, साधना और स्वप्नों का स्थान नहीं है। परंतु व्यापक दृष्टि से देखने पर ये सारी बातें साहित्य का स्थायी विशेषण ही सिद्ध होती हैं। साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है; परंतु जो कुछ प्रत्यक्ष है, स्थूल है, वही जीवन नहीं है, उसके परे मानसिक जीवन की भी गति है। भौतिक विकास के साथ चेतना-चमत्कृत, सांस्कृतिक विकास भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

अभी-अभी जो युद्ध समाप्त हुआ है, उसने सिद्ध कर दिया कि

विज्ञान विश्व-शांति का शत्रु है तथा सपरिवार भौतिकवाद विश्वसंस्कृति का उपहास। विज्ञान की सर्वश्रेष्ठ देन परमाणु बम भौतिकवाद की हिंसात्मक प्रवृति का दहकता हुआ प्रमाण है। इस विध्वंसात्मक आविष्कार ने सभ्यता को ज्वालामुखी के मुँह पर ला पटका है। संसार कविता के पथ पर द्रुतगति से अग्रसर हो रहा है। विज्ञान ने रक्त का स्वाद बता दिया है। अपनी प्यास बुझाने के लिए हिंसा रक्त माँग रही है। संपूर्ण विश्व का रूप विकृत हो चुका है। ध्वंस का दानव मानवता को निगलने के लिए कब से मुँह बाये खड़ा है। प्रगतिबादी वर्तमान अपने कुकर्म को छिपाने के लिए षड्यंत्र रच रहा है। भविष्य प्रश्न-चिह्न बनकर देख रहा है।

ऐसी परिस्थिति में हिन्दी-कवियों का दायित्व बढ़ जाता है। वे उस भाषा के कवि हैं, जो भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा मानी जा चुकी है। धर्म और दर्शन के क्षेत्र में भारतवर्ष विश्व-गुरु माना जाता है। उसने संसार को अमृत दिया है। उसकी संस्कृति मृत्यु को चुनौती देती रही है। आदि-काल से आज तक संसार में अगणित परिवर्तन हुए। साम्राज्य बने और मिट गये; धार्मिक विचारधाराएँ आयीं और विश्व के कूल को छूकर चली गयीं। परंतु भारतीय राष्ट्र आज भी अपने समस्त गौरव के साथ जीवित है। उसकी वैदिक संस्कृति, उसकी उपनिषदें, उसकी रामायण, उसकी गीता—मरण के ऊपर जीवन की अनन्त विजय का स्वर्णकेतु फहराती रही हैं। प्रत्येक युग में विपन्न विश्व को इनसे प्रेरणा मिली है। आज की अनिश्चित परिस्थिति में संसार भारतवर्ष की ही ओर निहार रहा है। परमाणु बम के द्वारा विश्व-शांति की प्रतिष्ठा हो सकती है अथवा सत्य और अहिंसा के द्वारा ? परमाणु बम के द्वारा मावनता की रक्षा हो सकती है अथवा सत्य और अहिंसा के द्वारा ? यह आज का दहकता हुआ प्रश्न है •और इसका उत्तर भारतीय विचारक और कवि ही दे सकते हैं।

यों तो इस प्रश्न का उत्तर, आज से बहुत पहले, भारतवर्ष 'मामेकं शरणं व्रज' के द्वारा दे चुका है। परन्तु आजका संकट-ग्रस्त संसार एक बार फिर इस उत्तर को सुनना चाहता है; क्योंकि जीवन की सच्ची व्याख्या इसी उत्तर में निहित है।

मेरा विश्वास है, राष्ट्रभाषा के कवि संस्कृति और मानवता की पुकार सुनेंगे। मेरा विश्वास, हिंदी-कविता का रूप बदलेगा। हिंदी-कवियों की प्रवृत्ति अन्तर्मुखी हो चुकी है। हिंदी के शब्दों में प्रलय-प्रभंजन की साँस को पी जाने की तथा विध्वंसक ज्वालामुखियों के विस्फोट को सँभाल लेने की दिव्य शक्ति आ चुकी है। आधुनिक कवियों की बुद्धि पर अवसरवाद ने जो अन्धकार का पर्दा डाल रखा है, वह अधिक दिनों तक टिक नहीं सकता। उसका छिन्न-भिन्न होना निश्चित है। साहित्यिक सैनिकवाद क्षणभंगुर होता है। दीर्घकाल तक गौरव-बंधन में रह नहीं सकता, सांस्कृतिक पुनर्जागरण अनिवार्य है। उपनिषदों का आह्वान हमारे शरीर में प्राण बनकर बैठा हुआ है। रामायण की पुकार हमारे रोम-रोम में लहरा रही है। गीता का शंखनाद हमारी साँसों का स्वर बन गया है। हम कला को भिखारिणी के वेश में देख नहीं सकते। कला एक शक्ति है और हमारा राष्ट्र सृष्टि के आरंभ से ही शक्ति का उपासक रहा है। आज कला का सिंहासन रिक्त है। अभिशाप-ग्रस्त होकर हमने वासनामूलक और द्वन्द्वात्मक प्रवृत्तियों को अपनाया; परंतु सर्वनाश की ओर अग्रसर होती हुई मानवता की कातर पुकार ने हमारी आँखें खोल दी हैं। हम संसार को फिर सुन्दर बनायेंगे। जिन हाथों ने कला को सिंहासन-च्युत किया, उन्हीं का अवलम्ब पाकर वह फिर सिंहासनारूढ़ होगी। सत्य चँवर डुलायेगा और अहिंसा आरती उतारेगी।

अति आधुनिक हिंदी कविता

द्वितीय विश्व-युद्ध से मानव-जाति और संसार को अपार क्षति पहुँची है, जिसकी याद अभी तक बनी है। इसलिये यह आश्चर्य की बात नहीं कि आगामी विश्व-युद्ध की कल्पना से ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। यह निश्चय है कि आगामी युद्ध पिछले युद्ध से भयंकर होगा। पिछले युद्ध की समाप्ति के बाद रण-मद-मत्त देशों को जो समय मिला है, उसमें बेहद तैयारियाँ कर ली गई हैं। भाँति-भाँति के नाशक अस्त्र बना लिए गए हैं, और वैज्ञानिकों की सारी शक्ति इन्हीं दिशाओं में कार्य करती रही है। एक ओर युद्ध रोकने का नारा, दूसरी ओर युद्ध की तैयारियाँ—'शीत-युद्ध' और उससे उत्पन्न भय और आशंका का वातावरण—यही आज की नैतिकता, प्रगतिशीलता और हृदय-परिवर्तन का प्रमाण है।

मानवता लोहू-लुहान है। उस पर हो रहे अत्याचारों को रोकने के लिये हर दिशा और हर क्षेत्र में प्रयोग किये जा रहे हैं। जैसे अंतर-

राष्ट्रीय क्षेत्र में आणविक बम-विस्फोट, राजनीतिक क्षेत्र में बहिष्कार तथा दिवंगत देश-सेवकों का अपमान, सामाजिक क्षेत्र में वर्ग-संघर्ष, बौद्धिक क्षेत्र में विचारों की उग्रता का शृंगार और साहित्यक क्षेत्र में सिद्धांतों और भावों का पूर्ण मूल्यांकन। इन प्रयोगों के प्रति भारतवर्ष विशेष रूप से जागरूक रहा है, जिसका स्पष्ट प्रभाव हमारी भाषा के लेखकों और कवियों पर भी पड़ा है। यहाँ हम अति आधुनिक हिंदी कविता की प्रवृत्तियों पर ही विचार करेंगे।

समस्याएँ मूलक कविताएँ

आज की अधिकांश कविताएं समस्या-मूलक होती हैं, ऐसा कहूँ, तो प्रतिपाद्य से संबंध छूट जाता है। आज की कविताएँ स्वयं ही समस्या बनकर सामने आती हैं, वस्तु-स्थिति यही है। उनमें कहाँ तक हम अपने देश की सभ्यता, संस्कृति, समाज और जीवन को पाते हैं, इसका उत्तर अभी तक नहीं मिला। मिलेगा, इसमें भी संदेह है। अन्य देशों से भिन्न हमारा देश एक प्रतीक है, अमर स्वप्न और अमर तेज का प्रतीक, अनेकता में एकता का प्रतीक; उस पवित्रता का प्रतीक, जिसे आत्मा की संज्ञा दी जाती है, उस प्रेम का प्रतीक, जिससे जीवन अनु-प्राणित होता है, उस आलोक का प्रतीक, जिसे शाश्वत सौंदर्य के नाम से पुकारते हैं, एवं उस सत्य का प्रतीक, जिसे ईश्वर का पर्याय मानते हैं। संपूर्ण भारतीय काव्य इसी प्रतीक के स्पष्टीकरण, साधारणीकरण एवं अलंकरण का छंदोबद्ध इतिहास है—दिव्य, गौरवमय, अनुपमेय। परंतु अति आधुनिक कविता इससे एकदम भिन्न है।

इसका एक कारण है। अव्यवस्था और अंधकार की भाषा के माध्यम से आत्मा की व्याख्या नहीं की जा सकती। भीतर की आँखें बंद कर और बाहर की आँखें खोलकर कला की सहज-स्वाभाविक पवित्रता का अनुभव नहीं किया जा सकता। परंतु आज के कवि के

पास क्या इतना समय है, क्या उसकी ऐसी परिस्थिति है कि वह रुककर, ठहरकर, ईमानदारी से, बुद्धि के सहारे आत्मा की व्याख्या करे, आत्मा की भाषा में सोचे, और विचारे तथा अपने गीतों में भरकर संसार को आलोक, शांति एवं प्रेममय जीवन का संदेश दे । दैहिक सुख और भौतिक उपलब्धियों के प्रति हमारे हृदय में जो व्यामोह उत्पन्न हो गया है, उसके प्रभाव में पड़कर हम चारों ओर अपना ही जाल बिछाने लगे हैं, और जाल बिछाकर हम स्वयं ही उसमें फँस गए हैं। भौतिक सुखों के चरणों पर जब हमने अपना अतिस्तत्व ही अर्पित कर दिया है, तब कला के स्वाभिमान की रक्षा का प्रश्न किस प्रकार उठ सकता है ?

कुछ नवीनतावादी कवि विदेशी पत्रों में यह छपवाते हैं कि जो परिवर्तन पाश्चात्य साहित्य में हो रहे हैं, वैसे ही परिवर्तन हिंदी-साहित्य में भी होने लगे हैं। परिवर्तन स्वाभाविक है, शायद आवश्यक भी। परंतु विचारणीय यह है कि हम अपने साहित्य को विदेशी साहित्य का अनुवर्ती बनाएँ या उसे इस प्रकार सजाए सँवारें कि उसकी दिन-दूनी और रात-चौगुनी, उन्नति हो, और साथ ही उसका अक्षुण्ण व्यक्तित्व मुस्कुराता रहे। उत्कर्ष और उन्नति के क्षेत्रों में जिस ऊँचाई तक हम पहुंच चुके हैं, उससे आगे बढ़ना ही हमारा लक्ष्य हो, तभी हमारा प्रयत्न श्लाघ्य माना जायगा, तभी हमारे प्रयोग लोकप्रिय हो सकेंगे। यदि विपरीत दिशा में हमारा अभियान होता है, तो आज का मोह-कलिल इतिहास भले ही हमारा स्तुति-गान करे, भविष्य हमें पदच्युत करके ही छोड़ेगा।

युद्धोत्तर हिंदी-कविता

इस दृष्टि से विचार करने पर लगता है कि युद्धोत्तर हिंदी-कविता पाश्चात्य साहित्य पर पड़े विज्ञान और यथार्थवाद का भद्दा अनुवाद है,

और उसका रूप उतना ही विकृत है, उसका विधान उतना ही जटिल है, उसका विषय उतना ही असाहित्यिक है, एवं उसका दृष्टिकोण उतना ही व्यावसायिक है, जितना आज के योरपवासियों का जीवन। पाश्चात्य देश के विचार-जगत् में होनेवाले युद्धोत्तर परिवर्तनों को सरलता से समझा जा सकता है, क्योंकि उनके भौतिकवादी विकास का इतिहास ज्ञात है, और हम यह भी अच्छी तरह जानते हैं कि द्वितीय युद्ध की लपटों में उनका क्या और कितना भस्म हो चुका है। यदि वहाँवालों का मानसिक धरातल डोल जाय, यदि उनके विचारक और कलाकार ईश्वरद्रोही बन जायँ, यदि घर में उनकी आस्था न रहे, यदि वे आत्मा के प्रति घृणा का प्रचार करने लगें, तो हमें आश्चर्य नहीं होगा।

परंतु हम पर युद्ध का यही प्रभाव पड़ा कि हम अनुकरणशील बन गए, चूँकि योरपीय साहित्य में मानव-जीवन के मूल्य, बेमोल बिकने लगे, मानव-शरीर-मात्र उपयोग का साधन मान लिया गया, इसलिये हम भी अपना साहित्यिक आचरण उसीके अनुरूप बना दें। आज का सबसे बड़ा तर्क यही है, जिसके प्रतिपादन एवं समर्थन में अँगरेजी पुस्तकों से लंबे-लंबे उद्धरण दिये जाते हैं। स्पष्ट कह दूँ कि बारबार कोशिश करने पर भी मैं इस तर्क को नहीं समझ सका हूँ। आज, काल और देश की सीमाएँ भहराने लगी हैं। विश्व-मानव, मानव-परंपरा, विश्वशासन आदि के नारे बुलंद किए जाते हैं। एक देश दूसरे देश के संपर्क में आना चाहता है। ऐसी परिस्थिति में स्वभावतः दुनिया के लोग यह जानना चाहेंगे कि अपने नवीनतम साहित्य में हम कहाँ तक अपने देश के सपनों, अरमानों, आशाओं एवं आदर्शों को उतार सके हैं। लोग हमारी नवीनतम कविताओं में यह नहीं देखना चाहेंगे कि वहाँ लंदन की संध्या का वर्णन है या नहीं, वहाँ फ्रांस की रंगीन रातें बिछली पड़ती हैं या नहीं। हम अमेरिका इङ्गलैंड और फ्रांस को विलास की क्रांतिकारी प्रणालियाँ नहीं दे सकते, क्योंकि इस क्षेत्र में हम उनसे आगे नहीं बढ़ सकते। हम उतने साधन-संपन्न भी नहीं हैं। इसके अतिरिक्त विलासिता

न हमारी परंपरा रही है, न हमारा इतिहास। हम रूस की भाँति रक्त की लालिमा भी नहीं छिटका सकते, क्योंकि हमारे देश की राजनीति सदैव से मानव-धर्म एवं नैतिकता का समर्थन करती रही है, और हमारा इतिहास मानव में ईश्वर को देखता है। युग-विशेष में हमारी आत्मिक चेतना एवं नैतिकता आध्यात्मिक उत्कर्ष की भाषा में घुल-मिल गई। आज भी यही पक्ष लेकर भारतवर्ष दुनिया के आगे खड़ा है और उसी पर संसार का ध्यान केंद्रित है। अतएव यह विशेष विचारणीय है कि हम दूसरों से क्या लें, दूसरे को क्या दें।

भारत की काव्य-परंपरा

भारत की काव्य-परंपरा बड़ी ही विचित्र है। एक ओर वेदों के ऋषि और उपनिषद् के अध्यात्मवादी, दूसरी ओर व्यास और तुलसी-जैसे कवि। अलग-अलग होकर भी दोनों परंपराएँ एक में विलीन, चिर-भास्वर आलोक से मंडित, अखंड पावनता से प्रोज्ज्वल एवं शाश्वत मूल्यों के समन्वय से प्राणवंत और जीवंत। बुद्ध के बाद सबसे बड़े भारतीय विचारक गांधी की वाणी इसी आलोक की भाषा में बोलती थी। भारत के बाहर भारत के प्रधान मंत्री इसी स्वर को दुहराते हैं, और उनकी ललकार-पुकार को सुनकर संसार चकित-विस्मित हो जाता है। परंतु हमारे नए कवि—

कसमसाती जवानी
रसमय, चुंबक मयंकसी देह
चिकने मांसल तन
वीनस-सा तन
नोकीली-रंगीन नजर
के पाश-जाल में फंसकर कहते हैं—
हर औरत को चिपकाया
हम चौड़े में खड़े लुट गए

और इस प्रकार काव्य-क्षेत्र में नई दिशा का निर्माण करते हैं। यदि अन्य भाषा-भाषी इन प्रवृत्तियों से अवगत हो जायँ, तो निश्चय ही वे राष्ट्रभाषा के प्रति हमसे अधिक चिंतित हो उठेंगे।

नवीनतावादी चाहे जो कहें, परंतु सत्य है कि इस धारा से न तो रूढ़ियाँ और परंपराएँ ध्वस्त हुई हैं, न नए मूल्यों और मानों का प्रतिष्ठापन हुआ है।

यह अस्वाभाविक नहीं

अप्रिय होने के बावजूद इन प्रवृत्तियों का प्रचार जोर पकड़ रहा है। लोग कहते हैं, यह अस्वाभाविक नहीं है। संसार की वर्तमान परिस्थिति में मनुष्य को अपनी जगह बनाने के लिए निरंतर संघर्ष करना पड़ रहा है। कवि की चेतना साधारण मनुष्य से अधिक जागरूक होती है, इसलिये वह बातों को जल्द और ज्यादा पकड़ता है, वह जनमन को अस्थिर बना देनेवाले कंपन का अनुभव करता और उसे स्वर देता है। परंतु मुझे ऐसा लगता है कि मात्र लहराव की अभिव्यक्ति स्थायी काव्य नहीं बन सकती। मस्ती की अवस्था में लिखी जानेवाली कविता एक ऐसा संतुलन है, जो वन के कंपन को आनंदमय संगीत में बदल देता है; अनुभूति और स्वीकृति का संतुलन, समस्वरता और अभिव्यक्ति का संतुलन, मन और मस्तिष्क का संतुलन, भाव और विवेक का संतुलन, भाषा और रंग का संतुलन, जो विक्षुब्ध जल में प्रतिरोधी धाराओं के बीच जहाज को सँभाले रहता है, वह संतुलन, जो अंधकार की घड़ियों में, जब प्रकाश के लिये चिल्लाहट बढ़ती है, निरंतर जागता रहता है; वह संतुलन, जो आत्मा के लिये शरीर को आधार देता है। मुझे ऐसा लगता है कि इस संतुलन को छोड़कर हिंदी-कविता ठहर नहीं सकेगी।

हिंदी के कवि और कवि-सम्मेलन

कवि-सम्मेलनों के आयोजन-संचालन के विषय में मेरा निजी अनुभव बहुत कम है। आज से लगभग ३२ वर्ष पूर्व, जब मेरे कवि-जीवन का आरंभ हुआ, कवि-सम्मेलनों का प्रचार इतना नहीं था, जितना आज है। कविता सुनने-सुनाने की इच्छा हर कवि के हृदय में होती है। मेरे हृदय में भी यह मोह कम नहीं है। फिर भी मैंने कवि-सम्मेलनों से प्रेम नहीं बढ़ाया। मेरी यह तटस्थता अब मेरी प्रकृति बन गई है।

यह मैं मानता हूँ कि कवि-सम्मेलनों के माध्यम से हिंदी का प्रचार किया जा सकता है, और अधिक-से-अधिक लोगों के हृदय में राष्ट्र-भाषा के प्रति अनुराग जगाया जा सकता है। ऐसा हुआ भी है। परंतु कालांतर में कुछ ऐसी प्रवृत्तियों ने जोर पकड़ा, जिनके अवांछनीय प्रभाव से संपूर्ण वातावरण ही अपवित्र हो गया।

प्रचार-कार्य की सफलता नकली प्रेमियों की संख्या बढ़ाने में नहीं होती। प्रचार-सभाओं में उपस्थित लोगों की भीड़ देखकर उनके आयोजक अपने उद्योग की सफलता पर गर्व का अनुभव कर सकते हैं। पर उचित एवं सच्चा मूल्यांकन तो तभी होगा, जब यह सिद्ध हो जाय क भाषणों अथवा कविता-पाठ से प्रभावित होकर अधिक-से-अधिक संख्या में लोग हिंदी के हिमायती बन गए। जब मैं इस दृष्टि से देखता हूँ, तो ऐसा लगता है कि कवि-सम्मेलनों से अपेक्षित परिणाम की उपलब्धि नहीं हो सकी है।

कुछ विशेष रूप से लिखने के पहले मैं लोक-मनोरंजन का प्रश्न यहीं उठाना चाहूँगा। न मालूम किस व्यक्ति ने, प्रथम-प्रथम, यह निष्कर्ष निकाला कि काव्य लोक-मनोरंजन का साधन है। कविता का उचित मूल्यांकन एवं सम्यक् विवेचन रसाग्रही श्रीमान् ही कर सकते हैं, न कि सामान्य जन। यही मूल्यांकन बौद्धिक मनोरंजन कहा जायगा। परंतु इस कोटि के समझदार पाठक और श्रोता बहुत कम मिलते हैं। यों तो जन-साहित्य के प्रसंग में तुलसी के रामचरित-मानस की लोकप्रियता का उल्लेख बार-बार किया जाता है। साधारणतः जन-साहित्य का जो अर्थ बताया जाता है, उस अर्थ में मैं रामचरित-मानस को जन-साहित्य नहीं मानता। यह सही है कि इस ग्रथ-रत्न की लोकप्रियता काल और सीमा से परे है। परंतु इस लोकप्रियता के आधार में सस्ती भावुकता नहीं, जीवन के शाश्वत मूल्य हैं। एक बात और है, जिसके कारण यह ग्रंथ अद्यावधि पूज्य माना जाता रहा है। तुलसीदास संत थे। उनके हृदय की भक्ति ही रामचरित-मानस की अंतर्धारा है, और इसी भक्ति के पवित्र वातावरण में उन्होंने अपने पात्रों का प्रतिष्ठापन किया है। मानस का मर्मज्ञ पाठक उसमें भरे हुए शाश्वत मूल्यों को ग्रहण करता, और उसकी अमृत-शीतल अंतर्धारा के संस्पर्श से आप्यायित होता है। इसके विपरीत सामान्य जन 'मानस' को धर्म-ग्रंथ मानकर उसकी पूजा करते

हैं। 'मानस' यदि मात्र काव्य ग्रंथ रह जाय, तो आज उसकी वही अवस्था होगी, जो अन्य काव्य-ग्रंथों की।

एकाग्र चिंतन अथवा गंभीर मनन से मनोरंजन का कोई संबंध नहीं। अनवरत कठिन परिश्रम से मन जब घबरा जाता है, तभी मस्तिष्क हल्केपन की ओर झुकता है। कविता को हल्केपन के इस स्तर तक पहुँचा देने से लोगों की प्रवृत्ति ही बदल गई। कविता का अर्थ भले ही समझ में न आए, लेकिन श्रोताओं को कविता सुनानेवालों की भाव-भंगी, स्वर-माधुर्य, पहराव-पोशाक आदि से जरूर मज़ा मिलने लगा। आर्थिक दृष्टि से भी मनोरंजन का यह नवीन-साधन अच्छा लगा। नाच-गाने का प्रबंध करने में आयोजकों को बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। पैसे भी पानी की तरह बहाए जाते थे। परंतु जब चाय की एक प्याली और दो बीड़े पान पर ही स्वनामधन्य कवि पधारने लगे, तब साकार सौंदर्य एवं साकार संगीत के आवाहन-आराधन की परिपाटी मिट-सी गई। अब तो जन्मोत्सव, उपनयन-संस्कार, किसी की बिदाई, किसी का प्रत्याभिगमन आदि ऐसे अनेक अवसर हैं, जब धड़ल्ले से कवि-सम्मेलनों का आयोजन होता है, और सिगरेट के धुएँ में अपनी मर्यादा एवं स्वाभिमान को मिलाकर कवि भी आनंद का अनुभव करते हैं।

कवि-सम्मेलनों के आयोजकों और कवियों की इस मनोवृत्ति पर मैंने गंभीरतापूर्वक विचार किया है। कवि, लेखक और संपादक बन जाना जितना सरल हिंदी में है, उतना संभवतः किसी अन्य भाषा में नहीं। यह एक अप्रिय प्रसंग है, परंतु मेरे इस कथन से असहमत होनेवाले कम ही मिलेंगे। साहित्य-क्षेत्र में जब ऐसी प्रवृत्ति जड़ पकड़ लेती है, तब अनेक अमंगलकारी घटनाएँ घटित होने लगती हैं। ज्ञान और विवेक पर पर्दा पड़ जाता हैं, और हर तरफ एक प्रकार की निरंकुशता खुलकर खेलने लगती है। मूल्यांकन और विवेचन का स्वर भी बदल

जाता है। मानो उस पर नया रंग खिलाया। भाव-भंगी और स्वर-माधुर्य का महत्व बढ़ा। लोगों का भाग्य खुलने लगा। फिल्मी-गीतों की मस्तानी धुन ने एक नया उन्माद पैदा किया। दर्द की बाँसुरी बजाकर आहों के स्वर में वासना गाने लगी, लोग झूमने लगे।

इधर, कुछ वर्षों से, संस्कृति के नाम पर काफी हो-हल्ला मचाया जाने लगा है। इस विचित्र अनुराग ने संक्रामक रूप धारण कर लिया है, जिसकी उग्रता बढ़ती ही जा रही है। मनुष्य की विचार-धाराएँ जितनी दिशाओं में प्रवाहित हो सकती हैं, उससे भी अधिक संस्थाएं इस देश में पनप रही हैं, और हर संस्था संस्कृति के उद्धार और उन्नयन के लिये सिर-तोड़ कोशिश करने लगी है। नृत्य-संगीत के अतिरिक्त कवि-सम्मेलन इस प्रयास की विशेषता है। परिणामतः प्रायः प्रतिदिन सांस्कृतिक समारोह के रूप में भाँति-भाँति के जलसे हुआ करते हैं, और उचित-अनुचित का विचार त्यागकर कवि-कविता सुनाने के लिये दौड़ पड़ते हैं।

हाल ही में साहित्य-संसार में दो नए अतिथि आए—प्रगतिवाद और प्रयोगवाद। इन नवागंतुकों का नए ढंग से स्वागत किया गया। धरती की समस्त कुरूपता, मस्तिष्क के संपूर्ण विकार और शरीर की सारी अपवित्रता को तथा जितनी अशुभ एवं अमंगलकारी भावनाओं को पकड़ में लाया जा सकता है, उन सबको पंक्तियों में खड़ा कर कविता का विषय बनाया गया। तर्क ने हृदय को दबा दिया; आवेश ने मर्यादा का गला घोंट दिया।

ऊपर जिन प्रवृत्तियों का उल्लेख किया गया है, उनका कविता पर घातक प्रभाव पड़ा, और उसकी पवित्रता एवं प्रतिष्ठा नष्ट हो गई। बौद्धिक मनोरंजन का आधार न बनकर कविता परिहास की वस्तु-बन गई। उसके प्रति जो आस्था और अनुराग की भावना सुदीर्घ काल से काम करती रही है, वह मिट-सी गई। वह द्वार-द्वार भटकने लगी; चाँदी के टुकड़ों

पर अपने को बेचने लगी। उसकी आँखों में न शील रहा, न पानी; उसके स्वर में न गांभीर्य रहा, न सच्चाई।

जब कवियों ने जान-बूझकर अपने स्तर को गिरा दिया, तो फिर श्रोताओं तथा पाठकों से उनके प्रति भद्रता और अनुशासन की अपेक्षा किस प्रकार की जा सकती है। जब कवियों ने आत्मप्रतिष्ठा की भावना को अपने ही पैरों से रौंद दिया, तो फिर उसकी मरहमपट्टी के लिये दूसरे लोग दौड़ेंगे अथवा सहानुभूति-प्रदर्शन करेंगे, ऐसा सोचना भी व्यर्थ है।

यहाँ एक दूसरा प्रश्न भी उठता है। यह कैसे कहा जा सकता है कि हर कवि-सम्मेलन में होनेवाली अस्तव्यस्तता के मूल में श्रोताओं की अनुशासनहीनता अथवा संचालन की कमजोरी ही होती है। कभी-कभी ऐसा विस्फोट खीझ और विरोध-प्रदर्शन के रूप में भी होता है। दूसरों को मूर्ख समझकर अपने खोखलेपन को आदर्श रूप में सामने रखने का युग लद गया। पाठकों और श्रोताओं की जाग्रत् चेतना वाणी का मर्म और मर्म की वाणी समझने लगी है। अब इस चेतना को दबाना कठिन है।

अतएव यदि कविता का ध्वजोत्थान एवं ध्वजीकरण अपेक्षित है, तो सर्वप्रथम कवियों को ही अपना पथ बदलना पड़ेगा। यह सही है कि कलाकार लोक-रुचि की उपेक्षा नहीं कर सकता। परंतु उसकी इस कर्तव्य-भावना एवं जागरूकता के आधार में जन-रुचि का परिष्कार तथा लोक-मंगल का महान् उद्देश्य भी होता है। साथ ही वह यह नहीं भूलता कि यदि आसमान का चाँद पृथ्वी की सतह पर आ जाय, तो भी वह आसमान का ही चाँद बना रहेगा।

———

स्वतंत्र भारत की राष्ट्र-भाषा का महाकाव्य

हिंदी के महाकाव्य का जन्म अभिशाप के लग्न और अशांति के वातावरण में हुआ था। यदि सिद्धों और नाथों के साहित्य एवं प्राचीनतम जैन कवियों का उल्लेख इतिहास-निर्माण के लिये मात्र तर्क का विषय मान लिया जाय, तो साधारणतः यह भी कहा सकता है कि स्वयं हिंदी-कविता का जन्म उस समय हुआ, जब देश की मिट्टी दुर्भाग्य के रक्ताक्त चरणों के नीचे आ चुकी थी। कुछ लोगों को इस कथन से आश्चर्य हो सकता है। परंतु गहराई में जाकर विचार करने से यह स्पष्ट हो जायगा कि आज के अनुसंधेय और अनुशीलनाचार्य जिसको आदि हिंदी-कविता का प्रारूप मानने लगे हैं, उससे अधिक वीरगाथाकालीन रचनाएँ इस गौरव के योग्य हैं। हाँ, यह सत्य है कि वीरगाथाकालीन काव्य भी पूर्व की ही लीक पर चला, पर भाषा की दृष्टि से रचना-शैली एवं शब्दों के प्रयोग में नवीनता आने लगी थी, और वर्तमान हिंदी-कविता इसी नवीनता की पीढ़ियों में आती है।

संतानोत्पत्ति के समय हर्षोल्लास से आनंद-उत्सव मनाए जाते हैं; बाजे बजते हैं; नृत्य-चपल चरणों की नूपुर-झंकार से वातावरण मुखरित हो जाता है। हिंदी-कविता के जन्म के समय भी हर्ष के गीत गाए गए, परंतु इन्हें आश्रयकों की प्रशस्तियाँ ही कहना ठीक होगा। बाजे भी बजे, और नर्तकियों की कटि-किंकिणियाँ क्वणित हुईं, तथा पग-नूपुर भी बोले। परंतु कविता के अंतराल में बैठकर ज्योति की शिंजनी बजानेवाली एवं मन-प्राणों को चेतना-चमत्कृत करनेवाली आत्मा न बोली।

मिट्टी में भी नहीं, बल्कि मिट्टी में ही आत्मा रहती है। शरीर क्या है? मिट्टी ही तो है। और, इसी मिट्टी के घर में आत्मा बसती है, और इसीके माध्यम से, आगे बढ़कर, लोग परमात्मा की कल्पना, अनुभव और उपासना करते हैं, तथा साधना एवं तपस्या की पलकों पर उसे उतार भी लेते हैं। यह मिट्टी, हिंदी-कविता के जन्म के समय, आत्मा के तेज से हीन हो चुकी थी। न उसमें विद्युत की ज्वाला थी, न पर्जन्य की प्राणोन्मादिनी पुकार। न उसमें प्राणवंतों के मन की चिनगारियाँ थीं, न अकूल के दुर्गम दुकूल को तूल की तरह उड़ानेवाली आँधियाँ। दुर्भाग्य पराधीनता के अंधकार की सेना लेकर भीम-वेग से दौड़ा आ रहा था। देश की मिट्टी कराहने लगी थी।

समय बदला, तो मनोवृत्ति भी बदल गई। मिट्टी में आत्मा की ज्योति जगानेवाले वाणी-पुत्र वाणी के वरदान को वणिक-बुद्धि के वरदान से तोलने लगे। कला कहीं परवशता बनी, कहीं विवशता। परवशता ने उसके पंख कतर दिए, विवशता ने उसे व्यामोह के बंधन में डाल दिया। सामान्यतः चंदवरदाई के 'पृथ्वीराज-रासो' को ही हिंदी का प्रथम महाकाव्य माना जाता है। यों तो कतिपय स्वनामा इतिहासकारों ने इस महाग्रंथ को, जिसमें ६६ सर्ग हैं, अप्रामाणिक ठहराया है, और कुछ विद्वान् इसे महाकाव्य स्वीकार ही नहीं करते, क्योंकि इसमें न तो कोई महान् संदेश संगुंफित है, न किसी एक कथानक का समुचित विकास ही

हो पाया है । यदि इन प्रश्नों को अलग हटाकर विचार करें, तो रासो को महाकाव्यों की श्रेणी में रखना ही पड़ेगा, क्योंकि उसमें काव्य-रसात्मकता का उचित निर्वाह, स्थान-स्थान पर छंद-परिवर्तन, वर्णन-शैली का वैचित्र्य आदि महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षण पाए जाते हैं। इसका कथानक भी महाकाव्य के अनुरूप ही है । फिर भी यह नहीं कहा जा सकता है कि पुस्तक में देश की आत्मा बोलती है, अथवा यह कि भारत जिस विराट् जीवन-दर्शन का प्रतीक माना जाता है, वह इसमें मुखरित हुआ है । यदि कोई इस पुस्तक में भारतीय सभ्यता और संस्कृति की मूल-गत भावनाओं को ढूँढ़ने का प्रयत्न करे, तो उसे निराश ही होना पड़ेगा । इसका कारण यही है कि जिस लग्न और वातावरण में इस महाकाव्य का जन्म हुआ था, वह, जैसा मैं ऊपर निवेदन कर चुका हूँ, अभिशाप का लग्न और अशांति का वातावरण था । विदेशियों के आक्रमण होने लगे थे । देश की मिट्टी की मर्यादा बचानेवाले वीर हीन-वीर्य हो गए थे, एवं सांस्कृतिक चेतना-ज्योति को प्रज्वलित रखने वाले धर्म-वीर आत्मविश्वास खोकर परमुखापेक्षी बन गए थे। मैं यह नहीं कहता कि अंधकार के उस विषाक्त वातावरण में किसी कलाकार ने भारत की आत्मा की पुकार सुनी ही नहीं । संभव है, साहित्य और कला के ऐसे एकाधिक उपासक आगे बढ़े हों, किंतु काल और परिस्थिति की विभीषिका ने उन्हें पनपने न दिया हो । आत्मा को भूलकर जिन कवियों ने जीवन में व्यामोह को प्रश्रय दिया, उन्हें आश्रयक प्राप्त हुए, और उनकी कला अंतर्वाणी, जन-वाणी, युग-वाणी अथवा देश-वाणी न बनकर चारणों के जीवन-यापन की कातर वाणी बन गई ।

दुर्भाग्य की जीत पर जीत होती गई, और उसके पैर भारत के मस्तक पर जम गए । मस्तक झुक जाने पर मस्तिष्क की पवित्रता मिट गई, और निराधार जनता ने मानसिक तथा राजनीतिक पराभव स्वीकार

कर लिया। मुगल-शासन-सत्ता की स्थापना से शांति की स्थापना अवश्य हुई, परंतु—

वह भी कोई शांति
कि भय हो बैठा जिसके भीतर;
बंदी हों जिसकी साँसें,
जिसकी वाणी, जिसके स्वर ?
वह भी कोई शांति
कि जो दृग-जल पीकर जीती हो;
शत-शत पीड़ित प्राणों की जो
दुखद आप-बीती हो ?
(कैकेयी—तृतीय सर्ग)

विदेशी शासकों की विलास-प्रियता की काली छाया में सामंतवाद का जन्म हुआ, जिससे समाज का रूप अत्यधिक विकृत हो गया। स्वार्थ की वेदी पर आत्मा का हनन एवं देश के भविष्य का बलिदान एक साधारण बात थी। देश-वासियों के मन-मस्तिष्क में लिप्सानल को धधकते देख शासकों की तलवार भी म्यान से निकल आई, और उस ध्वंसकारी अग्नि की प्रत्येक लपट से लिपटकर तांडव करने लगी। भारतीय संस्कृति की माँग में रक्त का संधि-राग भरने का षड्यंत्र चल पड़ा। यह षड्यंत्र सफल हुआ या नहीं, इसका उत्तर तो खंडित भारत का अखंडित जीवन-दर्शन ही देगा। परंतु उसका तत्कालिक प्रभाव तो देश के लिये अमंगलकारी ही सिद्ध हुआ, क्योंकि उससे संपूर्ण वातावरण अवांछनीय प्रवृत्तियों से भर गया।

यातना के अनेक वर्ष इसी प्रकार बीते, तब कुछ ऐसे लोगों की वाणी खुली, जिनका हृदय सहानुभूति-पूर्ण एवं संवेदनाशील था, और जो मिट्टी के कण-कण में निराकार ईश्वर की साकार व्याप्ति का अनुभव करते थे। इन निरीह कलाकारों ने प्रेम के संपर्क से घायल प्राणों को

लराया, और जनता को यह संदेश दिया कि लक्ष्य-प्राप्ति की राह में अनेकानेक कठिनाइयाँ और बाधाएँ आती हैं, किंतु धुन का पक्का पथिक गुरु की कृपा से ज्ञान की ज्योति जलाकर आगे बढ़ता और इष्ट को पा लेता है। इन प्रेममार्गी कवियों की रचनाओं में एक नया दृष्टिकोण, एक नया मोड़ अवश्य मिलता है, परंतु यह सब कुछ पर्दे के भीतर ही रहा। जायसी का 'पद्मावत' जो ५७ खंडों में संपूर्ण हुआ है, इस युग का एक-मात्र उल्लेखनीय काव्य-ग्रंथ माना जाता है। जायसी ने तत्कालीन दिल्ली के शासक अलाउद्दीन को 'माया अलाउदी सुलतान;' कहकर मायांधकार का प्रतीक माना, और जिस रूपक की सृष्टि की, वह निस्संदेह एक नई दिशा की ओर संकेत था। परंतु उसका सर्जनात्मक स्वर किसी भारी बोझ से दबा हुआ अत्यंत क्षीण था, और उसके भीतर की धार्मिक चेतना का प्रेरणा-स्रोत निश्चय ही अभारतीय था। जो समालोचक इसमें भारतीय अद्वैतवाद की स्पष्ट छाप देखते हैं, उनके प्रति मेरा यही नम्र निवेदन है कि अद्वैतवाद केवल-मात्र किसी दार्शनिक चिंता-धारा का नामाधिकारण ही नहीं है, प्रत्युत यह एक ही शब्द से गुंजारित होकर संपूर्ण भारतीय सभ्यता और संस्कृति का ज्योतिर्मय प्रतीक बन गया है। इसके अर्थ का शाश्वत संगीत है। अद्वैतवादी जीवन-दर्शन प्रत्यक्षवाद, अनेकवाद एवं व्यावहारिक सत्तावाद से अधिक दृढ़ता-पूर्ण और संकल्पात्मक होता है, क्योंकि वह न केवल यथार्थताओं के बीच जीवन को स्पर्श करता है, बल्कि जीवन तथा अस्तित्व से संबंधित अनुभव-अनुभूतियों और चेतनाओं में केंद्रीभूत है। यही एक जीवन-दर्शन है, जो समस्त जड़ताओं और भ्रांतियों के बीच यथार्थ को निकट से देखकर बिखरी हुई शक्तियों को एक सूत्र में पिरोता है, एवं विश्वास की ज्योति जगाकर पराभव, परवशता और हीनता के भाव को मिटाता है। भारतीय जीवन-दर्शन का यही मूल-मंत्र है।

स्पष्ट है कि 'पद्मावत' के रचना-काल तक भी उस महाकाव्य का

निर्माण न हो सका था, जिसे हम प्रत्येक दृष्टि से भारत के अतीत गौरव की प्रतिकृति मानते, अथवा जिससे प्रेरणा पाकर अंधकार से ज्योति की ओर बढ़ते; जिसके अध्ययन से मानव-मात्र को यह संदेश मिलता कि जीवन में केवल हीनताएँ ही नहीं हैं, केवल नैराश्य ही नहीं है; जीवन कर्म-क्षेत्र है, और विजय उसी के मस्तक पर मुकुट धरती है, जो अपनी बिखरी शक्तियों को एकत्र कर काल को भी चुनौती देता है।

इस देश की मिट्टी की यह विशेषता रही है कि उपयुक्त अवसर आने पर वह अपने भीतर के विराट् सौंदर्य को साकार कर ही देती है। राम और कृष्ण ईश्वरावतार माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त भी ऐसी अनेक देहधारी दिव्य प्रतिमाएँ यहाँ अवतरित हुई हैं, जिन्होंने देश के वातावरण में व्याप्त अंधकार को छिन्न-भिन्न किया, और जन-मन में नई चेतना की लहर दौड़ाई। मलिक मुहम्मद जायसी का समय आत्म अविश्वास और प्रवंचना का युग था। संसार की प्राचीनतम सभ्यता और संस्कृति को उखाड़ फेंकने के लिए एक साथ ही अनेक आँधियाँ प्रबल वेग से बहने लगी थीं। बाहर के शत्रु जितने सजग-सचेत थे, भीतर के उतने ही उग्र और हिंसक और, इन दोनों की सहायिका थी सत्ता की तलवार। कबीर का रहस्यवाद क्रांतिमूलक अवश्य था, परंतु उसमें पुनर्निर्माण की योजना, योग्यता और निष्ठा न थी। इसी प्रकार जायसी की परंपरा में नवीन स्वर तो था, परंतु वह तूफान के प्रलयंकर वेग को रोकने में असमर्थ था। वह अपनी संकुचित सीमा के भीतर भी तेज-तरल न था। ठीक इसी समय देश की मिट्टी की वाणी खुली, और उसका जाज्वल्यमान प्रतीक तुलसी के रूप में सामने आया, जिसका दृष्टिकोण समन्वयवादी, जीवन 'सियाराममय', विचार संकल्पात्मक, बुद्धि अंतर्वेधी, मस्तिष्क चेतयमान, हृदय विश्वास-बलिष्ठ, दर्शन सामासिक एवं स्वर प्राणोन्मादक था। उनकी कल्पना साकार क्षमता थी, उनकी कला साकार सजीवनी-शक्ति थी, और उनका प्रभाव साकार

निर्माण था। भारत के राष्ट्रीय जीवन में, संभवतः प्रथम-प्रथम, जनपदीय भाषा में देश की आत्मा बोली थी। आत्मा की यही पुकार 'रामचरित-मानस' के नाम से प्रसिद्ध है। रामचरित-मानस ही हिंदी का एक मात्र ऐसा काव्य-ग्रंथ है जिसके प्रकाश में तत्कालीन समाज ने अपने को पहचाना, जिससे प्रेरणा पाकर वह अपने पथ पर चलता रहा, एवं जिसका अमृत पीकर वह काल को भी चुनौती दे सका। भारतवर्ष का यही एक-मात्र ऐसा ग्रंथ है, जिस पर न तो सामंतशाही का प्रभाव पड़ सका न पराधीनता-जनित क्लीवता और हीन-वीर्यता का; यद्यपि दोनों की छाया में इसका जन्म हुआ। एकमात्र यही एक ऐसा ग्रंथ है, जिसने चारण-युग में नई दिशा की ओर संकेत किया, जो कालांतर में भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का अमर कोष बना और जो आज भी अपनी अन्य विशिष्टताओं के अतिरिक्त कला के ध्वजीकरण और ध्वजोत्थान का समुज्ज्वल आदर्श माना जाता है।

जब कभी किसी ने भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति का वास्तविक रूप देखना चाहा, उसने 'मानस', में सब कुछ पा लिया। इस महाग्रंथ में देश की सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक चेतनाओं का मर्यादा पूर्ण सजीव चित्रण तो मिलता ही है, साथ ही उन तत्वों का भी पूर्ण समावेश है, जिनसे जीवन और युग सँवारने तथा राष्ट्र के पुनर्निर्माण करने में महत्व-पूर्ण सहायता मिलती है। जब-जब देश संकटग्रस्त हुआ, तब-तब जनता और जन-नायकों ने 'मानस', से कर्तव्य-पथ पर दृढ़ रहने की प्रेरणा पाई। सुख-दुख में एक समान यह ग्रंथ हमारे साथ रहता आया है, और आज तो यह विदेशों में भी भारत-वाणी के रूप में समादृत हो रहा है।

रामचरित-मानस के बाद फिर वही रुढ़िवादिता आ गई, जो उसके पूर्व के हिंदी-साहित्य में व्याप्त थी। चारण-कालीन परिपाटी भी चल पड़ी। जो रति-प्रियता और विलासिता 'मानस' के पूर्व पूर्ण रूप से

मुखरित न हो सकी थी, वह काव्य में अट्टहास करने लगी, और कालांतर में लोगों ने उसे कला का पर्याय मान लिया। मेरे विचार में इसका एक ही कारण है। देश की छाती पर एक विदेशी बैठा ही था कि 'सात समुंदर पार', से दूसरा विदेशी आ धमका। एक के विष का प्रभाव मिट न सका था कि दूसरे का गरल राष्ट्र की हृदय-शिराओं में प्रवेश करने लगा। शताब्दियों तक जिस देश का नैतिक हनन हुआ हो, उसका शीघ्र होश में आना कठिन हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में यदि पराधीनता के अभिशाप के कारण देश और समाज के प्रभावशाली व्यक्ति परमुखापेक्षी बन जायँ, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। फिर, इतिहास भी तो अपनी पुनरावृत्ति करता है।

यह सही है कि हमारे नए शासकों ने भी हमारा पूरी तरह शोषण किया, और हमें पैरों के नीचे दबाए रखने का कोई उपाय नहीं छोड़ा। इनका दमन-चक्र भी खूब चला। परंतु यह मानना ही पड़ेगा कि विरोधी विचारों के स्वागत की उदारता भी इन नए शासकों में थी। इनके पहले के शासकों की धर्मांधता एक तलवार की ही भाषा जानती थी, क्योंकि तलवार के बल पर ही उसका अस्तित्व था, तलवार के द्वारा ही उसका प्रसार-प्रचार हुआ, और तलवार ने ही उसका इतिहास लिखा। राष्ट्रीय दृष्टि से नए शासक भी आलोच्य थे, परंतु वे धर्मांध न थे। यही कारण है, उनके दमन ने देश की सोई चेतना को जगाया, चमकाया, और एक दिन स्वयं ही उसके सम्मुख नत-मस्तक हो गया।

भारतेंदु और उनके परवर्त्ती कवियों ने जो नया स्वर फूँका, वह ओजस्वी और तेजस्वी अवश्य था; मर्मस्पर्शी भी था; परंतु भारतीय-जीवन का एक ही पक्ष लेकर चला था। संभवतः इसी कारण वह कोई उल्लेखनीय महाकाव्य न दे सका। 'प्रसाद' जी ने 'कामायनी' न दी होती, तो मैं तुलसी के बाद के हिंदी-काव्य को, महाकाव्य की दृष्टि से, रेगिस्तान ही मानता। हिंदी का यह गौरव-ग्रंथ भी उसी की भूमिका में

लिखा गया है, जिसमें जायसी ने 'पद्मावत' का निर्माण किया था। परंतु इसकी विशेषता यह है कि इसका कवि भारत की आत्मा को जायसी की अपेक्षा अधिक जानता था, क्योंकि वह उसी के साँचे में ढला था। जहाँ तक ईश्वर, पुरुष, प्रकृति, व्यष्टि, समष्टि और मानवता से संबंधित विचारों का प्रश्न है, 'कामायनी' का स्वर 'पद्मावत' के स्वर से अधिक स्पष्ट है, इसलिये यह पूर्ण रूप से भारतीय है। 'पद्मावत' दूर से आती हुई प्रतिध्वनि-मात्र है; परतु 'कामायनी' हृदय-मंदिर का वह शंख-नाद है, जिसमें साध्य का आवाहन साधना की साँसों से चलकर भविष्य के मंगल-पथ पर सिद्धि के आलोक को उतारता है।

वर्तमान के तुमुल कोलाहल में आनेवाले युग की पग-ध्वनि उसी प्रकार गूँजने लगती है, जिस प्रकार रथ के घर्घर-नाद में किसी के आने का शुभ संवाद—

रथ का घर्घर-नाद
तुम्हारे आने का संवाद। ('निराला')

यह भावुकता का निवेदन नहीं, एक ऐसा सत्य है, जिससे प्रकृति भी प्रभावित और अनुप्राणित होती है। जब मैं इस पर विचार करता हूँ, तो मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि 'पद्मावत' 'रामचरित-मानस' के महान् निर्माण का अग्रदूत था। 'पद्मावत' ने जो नया मोड़ दिया, वह संकेत-भर था कि नवीन पथ खुल रहा है, जिससे संसार का अत्युत्कृष्ट काव्य-ग्रंथ आनेवाला है। इसमें कोई संदेह नहीं कि उस युग के मननशील पाठक यह चेतावनी पाकर 'रामचरित-मानस' स्वागतार्थ व्याकुल हो उठे होंगे। 'कामायनी' को भी मैं एक ऐसा ही संकेत मानता हूँ। पराधीनता के अंध-वातावरण से निकला हुआ यह विलक्षण ग्रंथ एक ओर हृदय में आकाश-चुंबी तरंगें उठाता है, तो दूसरी ओर स्वतंत्र देश की राष्ट्र-भाषा के महाकाव्य के विषय में कल्पना करने को बाध्य करता है। 'कामायनी' का संपूर्ण गौरव इस कल्पना का आधार बन जाता है।

यहाँ निम्नांकित दो प्रश्न उठते हैं—

१. राष्ट्र-भाषा का महाकाव्य कब लिखा जायगा ?

२. उसका रूप कैसा होगा ?

कारयित्री प्रतिभा संकट-काल में अधिक चमकती है, ऐसा मेरा विश्वास है। कविता को मैं एक ऐसी शक्ति मानता हूँ, जो आंदोलन की घड़ियों में अनायास उत्पन्न होती है, और अपनी साँस की चिनगारियों से छूकर अभिशाप को भी वरदान-मधुर संगीत में बदल देती है। आज समस्त संसार में एक महान् आंदोलन चल रहा है। विश्व का प्रत्येक राष्ट्र, उस राष्ट्र का प्रत्येक कण अपनी सीमा में आंदोलित है। सामंतवाद, साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का प्रताप जो व्योम-विटंक तक पहुँच चुका था, अब सूर्यास्त की गहरी होती हुई छाया में अदृश्य होने लगा है। परंतु इनके समर्थक अभी तक पूर्णरूपेण मोह-मुक्त नहीं हो सके हैं। फेनिल क्रोध के वशीभूत हो उनका नत-मस्तक गर्व अपने मिटते हुए तेज की लपटों से सोए हुए संहार को जगाने का दुस्साहस कभी-कभी कर बैठता है। बुद्धि के संयोग से विज्ञान, विजेता के सिंहासन पर जा बैठा है, और उसका औद्धत्य अपने को सबका शासक मानने लगा है। बुद्धि और विज्ञान के चरमोत्कर्ष ने मानव को मानवता से छीन लिया है। मानव का मस्तिष्क विकृत हो गया है—

कैसा लगता है मानव-मस्तिष्क ?
मानो हो खप्पर विनाश का,
सुलग रही है आग,
हड्डियाँ चिटख रही हैं,
और रक्त फैला है चारो ओर।

प्रभात, १९५२

मनुष्य के हाथ में ध्वंसकारिणी शक्तियाँ आ गई हैं, और इससे जो परिस्थिति उत्पन्न हुई है, उसमें एक देश के विनाश और दूसरे देश के

विकास का प्रश्न नहीं है, बल्कि संपूर्ण संसार, समस्त मानव-समाज एवं मानव सभ्यता पर सर्वनाश की काली छाया मंडराने लगी है। मानवता के इतिहास में ऐसा घोर संकट संभवतः कभी नहीं आया था।

इसी भूमिका में स्वतंत्र भारत की राष्ट्र-भाषा का महाकाव्य उतरेगा। आज विश्व को शांति चाहिए। वह विष पीकर तड़प रहा है। उसे अमृत की आवश्यकता है। वह बुद्धि की उषा में पले हुए विज्ञान की ज्वाला से झुलस रहा है। उसे हृदय की शीतलता चाहिए। हमारा इतिहास साक्षी है, ये सारे वरदान एकमात्र भारत ही दे सकता है। राम और कृष्ण ने, गौतम और गांधी ने संसार को सबसे पहले हृदय दिया। इसी प्रकार वाल्मीकि और तुलसीदास ने मानव पक्ष का उदात्तीकरण किया। मानवतावाद का यह संदेश—

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति:
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।
यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः;
तत्र को मोह : क : शोक एकत्वमनुपश्यतः—

इसी देश ने दिया, और इसी देश ने यह आदर्श भी समुपस्थित किया—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः;
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु माकश्चिद्दुःखभाग्भवेत्।

'कामायनी' का व्यापक दृष्टिकोण इसी दिशा की ओर संकेत करता है। और, यदि निकट भविष्य में ही स्वतंत्र भारत के स्वप्नों को साकार करनेवाला महाकाव्य प्रकट हो जाय, तो कोई आश्चर्य की बात न होगी! पंचशील के रूप में हृदय, आत्मा और प्राण, सभी उपलब्ध हैं, आकार गढ़नेवाला कोई साधक कलाकार भी मिल ही जायगा।

दूसरा प्रश्न है, इस महाकाव्य का कैसा रूप होगा?

वर्तमान युग की सबसे बड़ी समस्या है आधुनिक मनुष्य। आज का मनुष्य अपना ही अग्रांशु बन गया है। वह भी एक समय था, जब मनुष्य ने प्रकृति का विपुल सौंदर्य और नक्षत्र-मंडल की सुव्यवस्था देखकर ईश्वर के विराट् सौंदर्य एवं कर्तृत्व-शक्ति की कल्पना की थी। परंतु आज के मनुष्य ने इस चिंतन-प्रणाली को त्यागकर जो मार्ग अपनाया है, उसमें पग-पग पर, वह अपनी ही आकृतियों को देखता है। वह बाह्य प्रकृति की सुव्यवस्था से उतना प्रभावित नहीं, जितना अपने मस्तिष्क की उलझन से पीड़ित है। इसी मानसिक अव्यवस्था से उसके जीवन के सकल आंदोलन आरंभ होते और उसी की अंधकार-सीमा में समाप्त होते हैं। प्रकृति के प्रति उसके हृदय में जो भय और श्रद्धा के भाव थे, उन्हें अणु-बम के आविष्कार ने मिटा दिया है, जिससे वह आत्महनन की भूमिका का सूत्रधार बन गया है। वास्तविकता के अध्ययन, पर्यवेक्षण और अनुसंधान से अशांति का प्रादुर्भाव नहीं होता। जब मनुष्य का व्यक्तित्व विकसित होकर सर्वग्रासी रूप धारण कर लेता है, और जिज्ञासा की भावना को मिटाकर अवांछनीय प्रवृत्तियों को प्रश्रय देता, तथा दुश्चेष्टाओं की ओर उन्मुख होता है, तभी संकट की स्थिति उत्पन्न होती है।

शैशव में बच्चे को अपना पिता सबसे अच्छा और अपनी मा सबसे प्यारी लगती है। पहले यही भावना मनुष्य को ईश्वर और धर्म की ओर प्रवृत्त करती थी, और वह बाह्य प्रकृति की सुव्यवस्था के अनुरूप अपने जीवन में भी सुव्यवस्था स्थापित करने की चेष्टा करता था। यंत्र-युग की सभ्यता के उत्कर्ष ने इस भावना को ध्वस्त कर दिया है, जिसका परिणाम हुआ है कि मनुष्य अपने को नैराश्य और दुश्चिंताओं का क्रीड़ा-कंदुक समझने लगा है। पहले वह धरती पर रहता था, और अपने को प्रियजनों तथा गुरुजनों से घिरा पाता था। सबका सृजनहार ऊपर रहता था, और नीचे था नरक-कुंड। आज का मनुष्य अपने चारो ओर अपने को ही पाता है। वह आगे बढ़ता है, या पीछे; वह बाईं ओर जा रहा है

या दाहनी ओर—इतना ही वह सोचता है, और यही उसकी योजना है। आज का मनुष्य वामपक्षी, दक्षिण-पक्षी आदि श्रेणियों में विभक्त है। वह प्रेयासक्त और श्रेय के प्रति कुठारहस्त है। परंतु इससे मानव-समाज में शांति, सभ्यता, प्रीति-प्रतीति और सुव्यवस्था की स्थापना नहीं की जा सकती।

साहित्य पर देश के इतिहास और संस्कृति का गंभीर प्रभाव पड़ता है। जागरूक कलाकार विकास के क्षितिज से निकलती हुई नवीन चेतना-रश्मियों की तुला पर प्राचीन और नवीन को तौलता और श्रेय के विधान से लोक-कल्याण एवं विश्व-मंगल का निर्माण करता है। मानव-बुद्धि के ज्ञानानुराग से प्रभावित होने पर श्रेय कार्य और भोग्य के संबंध में कलाकार की धारणा बदल जाती है; सत्य, मंगल और सुख का आदर्श उसकी दृष्टि में नया आकार ग्रहण करता एवं संपूर्ण विश्व एक नए रूप में प्रतिभात होता है। मनुष्य के साथ मनुष्य का तथा मनुष्य के साथ अन्य प्राणियों और वाह्य जगत् का संबंध नवीन दृष्टि से देखने लगता है। आत्मा की सत्ता में इस देश का सुदृढ़ विश्वास है, और सभ्यता के आदि-काल से ही वह विश्व-मानव-वाद का प्रवर्तक रहा है। अतएव इसमें कोई संदेह नहीं कि स्वतंत्र भारत की राष्ट्र-भाषा के महाकाव्य का केंद्र होगा विश्व-मानव, और वह जिस नवीन चेतना को प्रतिष्ठित करेगा, उसका आधार होगा मानव-धर्म।

रसानुभूति का आध्यात्मिक विश्लेषण

प्रकृति के अंतराल में छिपे हुए सौंदर्य ने वैदिक कलाकार की कल्पना को श्रद्धा एवं वेदना के भाव से भर दिया। अग्नि को अग्निदेव के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। घर-आंगन में आग, अंतरिक्ष में विद्युत और आकाश में सूर्य, यह अग्नि की विशेषता मानी गई। सुनील विस्तार अपनी दिव्यता के कारण वरुण का सिंहासन बन गया। झंझाओं को मरुत की उपाधि मिली। मर्मर ध्वनि से पूर्ण तरु पादप पुंज को, कलकल रव से गुंजित झरनों को, निर्जन वन कानन एवं उसके प्रत्येक पुष्प को किसी अज्ञात सौंदर्य-शक्ति का पवित्र मंदिर मान लिया गया। भोर की गुलाबी सुषमा लज्जाशीला आकाश-पानी के रूप में अभिनंदित हुई। स्पष्ट है कि इसका अन्वेक्षण तथा आस्वादन ही उस चरम अवस्था का प्रतीक है, जिसका स्वार्थ कला को सार्थक एवं सौंदर्यानुभूति को तीव्र करता है।

रस और काव्य-शास्त्र

रस भारतीय काव्य-शास्त्र के मूल सिद्धांतों का प्राण है। रस से आनंद की उपलब्धि होती है, और आनंद में रस की परिणति। मम्मट के अनुसार आनंद जीवन के समस्त प्रयोजनों का मौलिमुकुट है और वह रसानुभूति से उद्भूत होकर आत्मा को पूर्णतया आच्छादित कर लेता है। इससे स्पष्ट है कि तत्त्वतः काव्य-शास्त्र के लिए रस का जो महत्त्व है उसमें उसका आध्यात्मिक पक्ष कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। तैत्तिरीय और बृहदारण्यक उपनिषदों से इसकी पुष्टि होती है। तैत्तिरीय उपनिषद के अनुसार—

रसो वै सः रस ह्येवाय लब्ध्वानन्दी भवति।

वह अर्थात् ईश्वर रस है और उसकी उपलब्धि आत्मा को आनंद से पूर्ण कर देती है। बृहदारण्यक के अनुसार—

तद्यथा प्रियया स्त्रिया सपरिष्वक्तो न वाह्यं किंचन वेदनान्तरम्।

जिस प्रकार कामिनी के आलिंगन में बद्ध पुरुष आनंद-विभोर हो जाता है, और वह यह नहीं सोच सकता है कि उसके भीतर क्या है, बाहर क्या है। उसी प्रकार आत्मा परमात्मा में मिलकर पूर्ण रूप से संज्ञा-शून्य हो जाती है।

रसोद्रेक से सौंदर्यानुभूति अन्तर्मुखी होकर एक ऐसी मनोदशा की भूमिका बन जाती है, जिसका प्रत्येक कण आध्यात्मिक प्रकृतियों को स्फुरणात्मक बल प्रदान करता है। उपयोगिता के सुख से भिन्न यह आनंदानुभूति मानव-अस्तित्व की पवित्रता की प्रेरक तो होती ही है, साथ ही मन-मस्तिष्क की चंचलता और हृदय की अस्थिरता मिटाकर तन्मयता का समुद्र चारो ओर उड़ेल देती है, जिसकी अपार जलराशि में डूबकर हम सब कुछ पा लेते हैं।

रस और संतुष्टि

रस को संतुष्टि का भी पर्याय माना गया है। खट्टा, मीठा आदि

विविध स्वादों की अनुभूति रसना के द्वारा होती है, और इन विविध स्वादों के प्रसंग में भी रस-शब्द का प्रयोग किया जाता है। तैत्तिरीय उपनिषद् के भाष्य में श्रीशंकराचार्य ने कहा है—

रसो नाम तृप्तिहेतुरानन्द करो मधुराम्लादि प्रसिद्धो लोके।

जीवन सार तत्त्व भी रस का एक अर्थ होता है। जीवन बल का पर्याय है, और इसका बोध कराने के लिए भी रस का प्रयोग होता है। रस ईश्वर की शक्ति-विशेष का प्रतीक माना जाता है। गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने कहा है—

पुष्णामि चौषधी सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः।

समय-समय पर शब्दों के अर्थ का उत्थापन भी होता रहा है। रस के विषय में भी यही बात कही जाती है। आरंभ में मनुष्य रस के द्वारा अनुभूत संतोष को ही रस का पर्याय मानता था। कालांतर में विचारों और भावनाओं के प्रकृष्टोत्कर्ष के साथ-साथ मनुष्य की इस रसानुभूति की सीमा और स्वभाव में भी परिवर्त्तन हुआ। इस समय तक मनुष्य पारिवारिक और सामाजिक जीव बन चुका था, और वैयक्तिक शारीरिक सुख एवं आनंद के अतिरिक्त पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन के उत्कर्ष और कल्याण में दिलचस्पी लेने लगा था। इस परिवर्तन के फलस्वरूप परिवार और समाज के कल्याण से वह सुख एवं संतोष का अनुभव करता। मनुष्य की यही भावना रस का पर्याय बन गई।

रस की अभिव्यक्ति और कला

विकास और सभ्यता की ओर मनुष्य अबोध गति से बढ़ता गया। इस प्रगति के अनुरूप उसकी प्रवृत्तियाँ भी बदलती गईं। अब उसकी भावनाएं कलात्मक हो गईं। अब वह कला की अभिव्यक्ति में आनंद और संतोष का अनुभव करने लगा। रस की अभिव्यक्ति से कला का उत्कर्ष जीवन में उसी प्रकार सौंदर्य भर देता है, जिस प्रकार वसंत के स्पर्श से

पादप-पुंज नव पल्लव-परिधान धारण कर लेते हैं। आनंदवर्धन के इस विचार की परिदृष्टि वर्डस्वर्थ, कोलरिज, निराला आदि की कविताओं से होते हैं। मानव-सभ्यता, साधन और ज्ञान के विकास के साथ-साथ अर्थोत्थापन का क्रम भी चलता रहा, और वहाँ रुका जहाँ रस के द्वारा आध्यात्मिक परमानंद की दृष्टि होती है।

संपूर्ण दृश्यलोक सत् रजस् और तमस में विभाज्य है। सत् मन की निर्मल एवं प्रकाशमान अवस्था का द्योतक है; वह ज्ञान तथा आनंद के बंधन से आत्मा को विश्व में बाँध देता है। भगवान ने गीता में ऐसा कहा है। कला की अनुभूति की अवस्था भी ऐसी ही होती है। कला का साधक साधना द्वारा विज्ञानमय-कोष एवं आनंदमय-कोष की उपलब्धि कर लेता है, और निर्मल दृष्टि, प्रबुद्ध कल्पना-शक्ति, एवं अंतर्धान के सहारे उसे सृष्टि के अंतराल में छिपकर रहनेवाले सौंदर्य की रसानुभूति होती है।

स्वामी शंकराचार्य का प्रभाव

ऐसा लगता है कि भारतीय काव्य-शास्त्र में रस और ध्वनि के सिद्धांत का जो विकास हुआ है, उस पर दार्शनिक-शिरोमणि शंकराचार्य के 'परमा-अस्तित्व के सिद्धान्तों का अज्ञात रूप से गहरा प्रभाव पड़ा है। काव्य-शास्त्रों का मत है कि आध्यात्मिक और काव्यात्मक रस की अनुभूति में आत्मा का आनंद-पक्ष पूर्ण रूप से स्फुरित होता है। किसी प्रकार का आवरण नहीं रह जाता। भेद इतना ही है कि काव्यात्मक रस की अनुभूति रति (प्रेम) की भावना और आयोग से रंजित रहती है, तथा आध्यात्मिक रसानुभूति की अवस्था में सौंदर्य-बोध से आनंद-स्फुरण के साथ-साथ रस की भी सृष्टि होती है। रस कला की आत्मा है। पंडितराज विश्वनाथ के अनुसार सत्त्वगुण से उसका उद्रेक होता है; वह चेतन आनंद से पूर्ण एवं लोकोत्तर चमत्कार का प्राण है। इसकी अनुभूति वही करता है, जिसका हृदय भिन्नताओं के बीच एक रहस्यमयी एकता के

प्रभाव से आच्छादित हो जाता है—स्वाद, स्वाद्य और स्वाकार की संगीतमय एकता ।

गीता के अनुसार ईश्वर की अनुभूति हो जाने के बाद रस विलुप्त हो जाता है। यही वासना और आनंद का सूक्ष्म विश्लेषण है। मात्र सांसारिक सुख आत्मा को विश्व के जाल जंजाल में फँसानेवाला होता है। इसके विपरीत सौंदर्यानुभूति से उत्पन्न सुख अपनी तात्त्विक पवित्रता से सींचकर हृदय में शांति भरता एवं आनंद को जगाता है। तपस्या रत साधक वाल्मीकि के पावनतम करुणोच्छवास से ही कविता का जन्म हुआ था। तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मानंद वल्लीर किए गए अपने भाष्य में श्रीशंकराचार्य ने मन-मस्तिष्क की इसी अवस्था का चमत्कार-पूर्ण वर्णन किया है। भाष्य का एक अंश इस प्रकार है—

नूनं ब्रह्मैव रसस्तेषां।
तस्मादस्ति ततेषामानन्दकारणं
रसवद्ब्रह्म ।

अर्थात् आध्यात्मिक आनंद के अन्वेषकों के लिये ब्रह्म ही रस है। रसात्मक होने के कारण ब्रह्म ही उनके आनंद का मूलस्रोत है। यही वह अवस्था है जब संपूर्ण अज्ञान, समस्त अभिलाषाएँ एवं अनंत कर्मजाल मिट जाते हैं, और पूर्ण शांति की उपलब्धि होती है। मन के उस अचल मानसरोवर में आध्यात्मिक रस का पूर्ण चंद्र अपनी अखंड ज्योति के साथ विभासित होता है।

हिंदी का रीति-काव्य

विकास के क्रम होते हैं, और अवस्थाएँ भी। आदि से अंत तक की यात्रा इन्हीं क्रमों और अवस्थाओं का घटना-प्रधान इतिहास है। जीवन-यात्रा समाप्त होती है, परंतु काल-यात्रा अनंत है। काल चल रहा है उसी प्रकार, जिस प्रकार वह अतीत में चलता था, और भविष्य में भी इसी प्रकार चलता रहेगा। उसके साथ चलनेवाला मानव-जीवन रूप बदल-बदल कर आता और विश्व के रंगमंच पर अपना अभिनय समाप्त कर चला जाता है। मनुष्य की प्रत्येक सांस से, उसके हृदय की प्रत्येक धड़कन से, उसकी प्रत्येक अंगड़ाई से परिवर्तन, प्रवर्तन और विकास का निर्माण होता है। संसार-निर्माण के इतिहास में उत्थान का उतना ही महत्व है, जितना पतन का। जीवन-मरण, उत्थान-पतन, उदय-अस्त विकास के सोपान हैं। प्राचीन नवीन की भूमिका है। वर्तमान का दूसरा नाम है आश्चर्य। सशक्त होकर भी यह आश्चर्य सदैव प्रश्न-चिह्न की भांति आँखें फाड़कर देखता रहता है। अपने कृतित्व में प्राचीन के

योग के प्रति आस्था न रखनेवाला यह अनुदार, अविश्वास बनकर विद्रोह तो करता है, परंतु विकास के सत्य की ही विजय होती है, और उसकी श्रृंखला टूटती नहीं।

अपनी यात्रा के जिस चौराहे पर आज हिंदी-कविता खड़ी है, वहाँ पहुँचने के लिये वह अनेक युगों से अपने पथ पर चलती रही है। अमीर-खुसरो से लेकर सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' तक का हिंदी-काव्य इसी अशेष यात्रा की कहानी है। किसी एक व्यक्ति ने, किसी एक कवि ने इस इतिहास का निर्माण नहीं किया। यह पुनीत कार्य सैकड़ों अमर प्रतिभाओं के प्रकाश-योग से संपन्न हुआ है। हिंदी के प्रथम कवि की प्रथम कविता ने पथ का निर्माण किया। यह कई सौ वर्ष पहले की बात है। आज उसी पथ पर सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' अपने समकालीन कवियों के साथ चल रहे हैं। उसी पथ पर चंदवरदाई, जायसी, मीरा कबीर, तुलसी, सूर, बिहारीलाल, देव, केशवदास, भारतेंदु, शंकर, 'हरिऔध', 'रत्नाकर', श्रीधर पाठक, रामचरित उपाध्याय आदि कवि चल चुके हैं। इस चलने के क्रम को गति न कहकर प्रगति कहना ही ठीक होगा, क्योंकि इसमें प्रखरता का गौरव विद्यमान है।

हिंदी का रीति-काव्य इसी विकास की एक श्रृंखला है। काव्य के संपूर्ण विकास में उसकी प्रत्येक धारा का अपना महत्त्व होता है। जिस प्रकार काव्य के विविध अंग होते हैं, उसी प्रकार कविता की धाराएँ होती हैं। संपूर्ण विकास के लिये न केवल प्रत्येक अंग का पुष्टीकरण अपेक्षित है, प्रत्युत कविता के क्षेत्र में जितनी धाराएँ प्रवहमान हैं, उनमें से प्रत्येक का चरमोत्कर्ष भी आवश्यक है। इन दोनों के योग को ही संपूर्ण विकास कहेंगे। वस्तुतः विकास की यही प्राकृतिक श्रृंखला है।

युग बदलता रहता है। युग के साथ भावों की पृष्ठ-भूमि में भी परिवर्तन होता है। ऐसा भी देखा गया है कि एक युग की विचार-धारा और साहित्य-साधना दूसरे युग को मान्य नहीं होती, और वक्र

आलोचना का विषय बन जाती है। परंतु इससे उसके वास्तविक मूल्य की हानि नहीं होती। मेरे विचार में दोष है मूल्यांकन की प्रणाली का। हिंदी के वर्तमान आलोचकों की पाश्चात्य विचार-धारा से ओत-प्रोत प्रवृत्तियों को देखकर मैं कभी-कभी यह साश्चर्य सोचता हूँ कि राम-भक्त गोस्वामी तुलसीदास यदि आज जीवित होते, तो क्या लिखते। मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि साहित्यकार अपने युग की उपेक्षा करे। मेरी तो यह धारणा है कि सच्चा कलाकार ऐसा कर ही नहीं सकता। युग की चेतना दबाई नहीं जा सकती। वह किसी-न-किसी रूप में अवश्य ही साहित्य का प्रेरणा-स्रोत बन जाती है। इतिहास साक्षी है कि ऐसा समय भी आया है, जब बार-बार जगाने पर भी युग-चेतना में उफान नहीं आया। परंतु सिर्फ इसी कारण उस युग की उपलब्धियों को हेय नहीं माना जा सकता। ऐसी उपलब्धियों की गुण-गरिमा की परीक्षा उसी कसौटी पर होनी चाहिए, जो उस युग की मान्यता थी। १७वीं शताब्दी के साहित्य की समीक्षा २० वीं शताब्दी के वैज्ञानिक विकास के मान-दंड से नहीं की जा सकती। आज की विचार-धारा, मान्यताएँ, प्रवृत्तियाँ—सब कुछ भिन्न हैं। आज की मानवता चिनगारियों के समूह में पल रही है। परिस्थितियों के प्रभाव में पड़कर वह स्वयं ही चिनगारी बन गई है। चिनगारियों से भी शृंगार किया जा सकता है। चिनगारियाँ स्वयं ही शृंगार के प्रसाधन बन सकती हैं। परंतु फूलों से किया हुआ शृंगार भिन्न होता है। हालाँकि शृंगार दोनों ही हैं।

रीति-काव्य की अपनी विशेषतायें हैं। काव्य-रचना की शास्त्रीय पद्धति ही रीति-काव्य के नाम से पुकारी जाती है। काव्य-शास्त्र एवं लक्षण-ग्रंथों का निर्माण अध्ययन, मनन, चिंतन एवं विश्लेषण-विवेचन का परिणाम है। ये ग्रंथ मार्ग-प्रदर्शक का काम करते हैं। न केवल हिंदी में, अपितु प्रत्येक भाषा में ऐसे ग्रंथ पाये जाते हैं। इन ग्रंथों में वर्णित सिद्धांतों को अपना कर काव्य-रचना को पराकाष्ठा तक पहुँचा देना

सरल काम नहीं है। कवि-कर्म के निर्वाह में साधना की आवश्यकता होती है। रीति-काव्य के निर्माण के लिये साधना के अतिरिक्त सूक्ष्म-बुद्धि, बहुदर्शिता, विस्तृत अनुभव, गंभीर अध्ययन और विपुल भाषा-ज्ञान भी अपेक्षित है। कला को आलोच्य बनाकर विद्वानों ने विविध दृष्टियों से विचार किया है। कला कला के लिये—यह किसी युग का विशेष नारा था। आज के वैज्ञानिक युग में यह नारा अनादर और तिरस्कार का विषय बन गया है। आज प्रत्येक वस्तु उपयोगिता की दृष्टि से देखी जाती है। इस दृष्टि से जो वस्तु जीवन के समीप नहीं आती, जो जीवन में बल और स्फुरण नहीं भरती, अथवा जीवन की वास्तविकता का प्रतिनिधित्व नहीं करती, उसका कोई मूल्य नहीं। पुत्र जन्म लेता है, मुन्नू के नाम से प्यार किया जाता है। तरुणाई के स्पर्श से यौवन मद-मस्त हो झूमने लगता है, तो प्रियतम बन जाता है, आगे चलकर पिता और प्रपितामह भी बन जाता है। फिर एक ऐसा समय आता है—वार्धक्य—जब अपने ही परिवार में उसकी उपयोगिता नहीं महसूस की जाती। यह मूल्यांकन की वैज्ञानिक पद्धति वर्तमान युग की देन है। परंतु इससे 'रचना' का महत्त्व नहीं घटता। 'मुन्नू' के सुन्दर निर्माण में जो कला अपनी संपूर्ण उत्कृष्टता लेकर चमकती है, वही यौवन का शृङ्गार बनकर मदिरोल्लास से छलक पड़ती है, वही प्रौढ़ावस्था का गांभीर्य एवं वार्धक्य का गौरव बनती है। कला के ये विविध रूप हैं, और प्रत्येक रूप अनुपम एवं अद्वितीय है।

यह सही है कि रीति-काव्य उस युग में लिखा गया, जब देश में सामंतवाद का बोलबाला था। यदि राष्ट्रीय दृष्टिकोण से इस प्रकार के काव्य को नैतिक-ह्रास का द्योतक मान लिया जाय, तो उन आलोचकों को अवश्य संतोष होगा, जो अपने युग की बुराइयों को भी जीवन के शाश्वत मूल्यों के समकक्ष स्थान देने में नहीं हिचकते, तथा उन मान्यताओं की जय बोलते हैं, जिनके पोषक तत्त्व विनाश और संहार की चिनगारियाँ भी हैं। जिस सिद्धांत के अनुसार दो पैसे की मूली की

कीमत चार पैसे नहीं दिए जा सकते, किंतु ध्वंसक वैज्ञानिक यंत्रों द्वारा क्षणों में ही अनेक नगरों और नर-नारियों को धराशायी किया जा सकता है, उसके आधार पर खड़ी की गई सभ्यता को भी नैतिक ह्रास का परिचायक ही माना जायगा।

जीव-शास्त्र ने आधुनिक आलोचक को जितने हथकंडे दिए हैं, उनमें से एक वह है, जिसने मनुष्य के जीवन को गद्यमय बना दिया है। न पिता पिता है, न भाई भाई। जो आज अर्द्धाङ्गिनी और हृदयेश्वरी है, कल उससे संबंध-विच्छेद हो जाता है। विधि-विधान इसे मान्यता देते हैं। तो फिर आधुनिक मनुष्य के जीवन में कविता कहाँ और कैसे रम सकती है? और, जो सौंदर्य आज चित्रांकित होने लगा है, वह सौंदर्य नहीं, उसका शव है। शव इसलिये कि उसके मूल में न कोई भावना है, न कोई संस्कार; न कोई उत्प्रेरक बल है, न कोई प्राणोन्मादिनी शक्ति।

रीति-काव्य जीवन का सौंदर्य-पक्ष लेकर चला। सौंदर्यानुभूति से उत्पन्न सुख उपयोगिता के सुख से भिन्न होता है। इसीलिये वह काव्य में अभिव्यंजना पाता है। रीति-काव्य ने जीवन के इसी सौंदर्य-मूलक सुख को मुखरित किया। इस युग के कवियों ने सौंदर्य में न केवल रुचिरता, नवीनता और रमणीयता देखी, प्रत्युत उसमें लय, समस्वरता, अनुरूपता, सुव्यवस्था, संतुलन, रंग, आकार, द्युति और स्निग्धता भी देखी, एवं अपनी अनुभूतियों को वाणी दी। साहित्य-शास्त्र का मर्म समझनेवाला आलोचक रीतिकालीन काव्य के आधार पर बेधड़क कह देगा कि कविता शब्द और अर्थ के संयोग को ही नहीं कहते; वह रम्य-रमणीय एवं कम्य-कमनीय की आह्लादकारिणी अभिव्यंजना तो है ही, साथ ही सौंदर्य की अभिव्यक्ति भी। कला का यही रूप है। जिस अर्थ में सौंदर्य आनंद की अभिव्यक्ति माना जाता है, उसी अर्थ में कला को सौंदर्य की अभिव्यक्ति मानना चाहिए।

— —

वक्रोक्ति—कुंतक की मान्यताएँ

अपने विचारों के प्रति घोर मोह, जो कट्टरता की परिभाषा में आ जाता है, काव्य में रीति के प्रवर्तकों की विशेषता थी। रीति, गुण और अलंकार के प्रतिपादकों ने इन लक्षणों को न केवल काव्य के मुख्य तत्त्वों में परिगणित किया, प्रत्युत इनके प्रति उनके हृदय में जो मोह था, उससे प्रभावित होकर वे इन लक्षणों को ही काव्य का प्राण मान बैठे। रीति के प्रवर्तकों में दंडी और वामन का प्रमुख स्थान है। गुणों और अलंकारों के विवेचन की इनकी पद्धति सामान्यतः एक-सी ही रही है। हाँ, वामन के विचार अधिक स्पष्ट हैं। दंडी के विचार में गुण रीति के आवश्यक अंग हैं, और अलंकारों द्वारा शब्द-सौष्ठव खिल उठता है। कुछ अधिक स्पष्ट होकर वामन ने गुणों को रीति का आधार और रीति को काव्य की आत्मा माना। उनकी दृष्टि में इन दोनों का काव्य से अविच्छिन्न संबंध है, और इसी अविच्छिन्न संबंध के कारण काव्य में उत्कृष्टता आती है। अन्यान्य तत्त्व रस, अलंकार आदि अधीनस्थ होकर प्रभाव उत्पन्न करते हैं।

स्पष्ट है, दोनों संप्रदाय ऊपर-ही-ऊपर उड़ते रहे। जिस यांत्रिक पद्धति का उन्होंने आविष्कार और प्रचार किया, उसका काव्य के बाह्य सौंदर्य से ही संबंध था। काव्य के भीतर बसनेवाले सौंदर्य की ओर उनका ध्यान ही नहीं गया। भरत से लेकर वामन तक जितने आचार्य आए, सबकी दृष्टि गुणों और अलंकारों पर ही केंद्रित रही। ध्वनि और रस को, जो आनंद के मूल स्रोत हैं, उन्होंने कोई महत्त्व नहीं दिया।

आगे चलकर ध्वनि और रस के प्रवर्तक आए, और रीतिवादियों की प्रतिकूलात्मक आलोचना को तथा रीति, गुण और अलंकार के स्थान पर ध्वनि और रस को मान्यता प्रदान की। इन आचार्यों के अनुसार तत्त्वतः ध्वनि (Suggestiveness) ही वह माध्यम है, जिसके द्वारा सच्ची कविता की परख की जा सकती है। श्रवण जो कुछ सुनते हैं, उससे अधिक मनोमुग्धकारी भाव ध्वनि में ही अंतर्हित रहता है, और उसे हम गूढ़ार्थ के नाम से जानते हैं। वस्तु, अलंकार और रस के संयोग से प्रादुर्भूत यह गूढ़ार्थ वाच्यार्थ से भिन्न होता और पाठक की अनुभूति की तीव्रता पर निर्भर करता है। पाठक की अनुभूति की तीव्रता एवं इसकी तन्मयता की गहराई की वह कसौटी है, जिस पर सच्ची कविता का मूल्यांकन हो सकता है। दूसरे शब्दों में, रस और ध्वनि के समर्थकों के अनुसार रस ही काव्य की आत्मा है।

जहाँ तक सिद्धांतमूलक उत्कर्ष का प्रश्न है, काव्यात्मक सौंदर्य के आधार के रूप में रसवाद अत्यंत आदर्श दीखता है। परतु इसके व्यावहारिक पक्ष की ओर इसके प्रवर्तकों का ध्यान नहीं गया—ऐसा कहा जा सकता है। इस सिद्धांत के आदर्श की उच्चता हिमालय की धवल गरिमा से किसी भी अवस्था में न्यून नहीं है। उसे हम पूर्णत्व का पर्याय भी मान सकते हैं। परंतु इससे कविता का क्षेत्र संकुचित-सा हो जाता है। संसार की किसी भाषा का कोई कवि, अपनी प्रत्येक रचना में, इस ऊँचाई तक पहुँचने का अभिमान नहीं कर सकता। विश्व-वाङ्मय के इतिहास

में संस्कृत-काव्य का गौरवमय स्थान है। अश्वघोष, कालिदास, भवभूति, बाणभट्ट आदि महाकवियों की कृतियाँ राष्ट्र-संपत्ति के रूप में वंदनीय हैं। परंतु इनमें से प्रत्येक की उत्कृष्टता की परख रसवाद की कसौटी पर नहीं की जा सकती। इनकी अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। कहीं लोकोत्तर आनंददायक निर्झर तरंगाकुल वेग से उछल रहा है, कहीं शब्दों की छटा पूर्णिमा की निर्दोष चंद्रिका की तरह चमक रही है, कहीं संगीत की माधुरी शत-शत धाराओं में फूट रही है। इन सबसे पाठक का मनोरंजन होता है, और इनमें से प्रत्येक का अपना महत्त्व है।

पूर्वाचार्यों की अपेक्षा कुंतक के हृदय में अधिक संवेदनशीलता विद्यमान थी। कवि की प्रतिभा-शक्ति को किसी बंधन-विशेष में बाँधकर उसकी गति रोकना कुंतक की दृष्टि में अशोभन था। सशक्त कवि के द्वारा बाह्य सौंदर्य का भी संस्कार संभव है—ऐसा कुंतक का विश्वास था। भावों से आनंद का उद्रेक होता है। हालाँकि यह सत्य है कि रस के पूर्ण परिपाक का, परिणाम की दृष्टि से, अपना महत्त्व है। कवि के कर्तृत्व से झाँकनेवाली उसकी कोई शक्ति, उसकी कोई उक्ति अथवा उसका कोई काव्यालंकार बाह्य या आभ्यंतरिक, यदि उसमें वैदग्ध्य है, तो वह कुंतक की दृष्टि में आनंदानुभूति का साधन था। सामान्य उक्ति से कविता इसी लिये भिन्न है कि उसमें कवि अपनी चातुरी और कल्पना के सहारे अभ्यंजनामूलक वैदग्ध्य भर देते हैं। कुंतक ने इसी वैदग्ध्य भंगी को वक्रोक्ति कहा है—

वैदग्ध्यभः भणितिः

यदि लोकोत्तर आनंद की अनुभूति ही कविता का प्रधान उद्देश्य है, तो कुंतक के अनुसार शब्द-योजना, पद-लालित्य, स्वर-झंकार, अर्थ-गांभीर्य तथा परिस्थिति का सुस्पष्ट वर्णन भी आनंदोद्रेक का कारण बन सकता है; क्योंकि कवि की प्रतिभा और कल्पना-शक्ति से जिस अभिव्यंजना का प्रादुर्भाव होता है, वह सामान्य शब्दोच्चार से न केवल

भिन्न होती है, प्रत्युत उसमें एक विलक्षण गरिमा और आकर्षण भी रहता है।

कुंतक ने कविता को पूर्वाचार्यों की भाँति संकुचित दृष्टिकोण से न देखकर अपने विवेचन की शैली में औदार्य भाव को अपनाया, और जन-मन-अनुरंजिनी कविता को वज्र-कठोर बंधनों की बंदिनी बनने से बचाया। जहाँ तक काव्य-शास्त्र की शृंखला की सुरक्षा का प्रश्न है, कुंतक ने अपने मत-प्रतिपादन में पूर्वाचार्यों के प्रति विद्रोह का स्वर नहीं उठाया। काव्य-विवेचन की पद्धति को अधिक उदार एवं सहानुभूति-पूर्ण बनाने के हेतु कुंतक ने पूर्वाचार्यों के सिद्धांतों को वहाँ तक मान्यता दी, जहाँ तक सफल प्रतिपादन की माँग थी। जहाँ यह अनावश्यक था, वहाँ कुंतक ने अपने को पूर्णतया स्वतंत्र रक्खा।

कुंतक ने कवि-कर्म को बंधनों का आश्रित बनाना नहीं चाहा; न काव्य के संपूर्ण सौंदर्य को ही किसी सीमा में बाँध रखना अभिप्रेत था। कुंतक को वे सारी सुविधाएँ सुलभ थीं, जो युग के अंतिम चरण में आनेवाले विचारक को प्राप्त होती हैं। कुंतक ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन तब किया, जब काव्य-शास्त्र विकास की अंतिम अवस्था को प्राप्त हो चुका था। उत्कर्ष को प्राप्त होकर रीतिवाद पतनोन्मुख था। उद्भट और रुद्रट के सफल नेतृत्व में अलंकार-संप्रदाय पर्याप्त उन्नति कर चुका था, तथा रस और ध्वनि का महत्त्व स्थापित हो चुका था। यों तो वक्रोक्ति का प्रवर्तन-संस्कार भामह के द्वारा पहले ही हो चुका था। परंतु, कुंतक ने, पूर्वाचार्यों के लिपिबद्ध विचारों के अध्ययन-अनुशीलन एवं अपनी प्रतिभा के सहारे वक्रोक्ति का असंकुचित दृष्टिकोण से प्रतिपादन किया, और उसमें न केवल अलंकार को, बल्कि रस और ध्वनि को भी स्थान दिया।

कवि की वाणी में वैदग्ध्य हो और पाठक अथवा आलोचक के हृदय में सह-अनुभूति, तभी काव्य का सही मूल्यांकन हो सकता है।

अर्थात् काव्य के उचित मूल्यांकन में कवि का जो दायित्व है, उससे कम दायित्व आलोचक का नहीं है। यह सही है कि प्रत्येक कवि की विचार-धारा समान नहीं होती, नहीं हो सकती। कल्पना का प्रयोग भी भिन्न-भिन्न दृष्टि के अनुसार, विभिन्न होता है। इसी कारण कुंतक ने काव्य-रचना के लिये कोई विशेष बंधन नहीं निर्धारित किया, जिससे उन आलोचकों का दायित्व बढ़ गया, जो उधार लाए हुए सिद्धांतों के सहारे अथवा अपने हठ को ही सर्वाधिक महत्व देकर आलोचना करना पसंद करते हैं। काव्य-शास्त्र को कुंतक की यही देन है।

यद्यपि वक्रोक्तिजीवित में यत्र-तत्र-सर्वत्र वक्रोक्ति पर जोर दिया गया है, तथापि इस गुणविशेष को काव्य की आत्मा के रूप में कहीं नहीं स्वीकार किया गया। कुंतक ने तीन प्रकार से कविता की परिभाषा की है—

(१) कवेः कर्म काव्यम्, (२) सालङ्कारस्य काव्यता,
(३) शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी;
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणो।

इनकी विश्लेषणात्मक व्याख्या इस प्रकार होगी—

(१) अलंकार काव्य के आवश्यक गुण हैं, (२) इनकी उत्कृष्टता कवि की व्यक्तिगत शक्ति पर निर्भर रहती है, (३) इनके द्वारा आलोचक को अवर्णनीय आनंद की अनुभूति होती है।

काव्य के मूल्यांकन में शब्द और अर्थ का भारी महत्व है। इन दोनों के समन्वय-समीकरण से ही कविता की उत्पत्ति होती है। 'शब्दार्थौ काव्यं' कुंतक ने ऐसा नहीं कहा। प्रत्येक शब्द अर्थ-बोधक होता है। साथ ही प्रत्येक शब्द काव्यात्मक आनंद की सृष्टि नहीं करता। इसलिये कुंतक के अनुसार शब्द और अर्थ का संयोग ही काव्यगत उत्कृष्टता का आधार है। काव्योद्देश्य के प्राप्ति-हेतु रस-संयोग में विलक्षणता का समावेश अनिवार्य है। यहीं वक्रोक्ति आती है।

कुंतक के अनुसार शब्द और अर्थ के समीकरण में कवि-व्यापार और आह्लादकारित्व का बड़ा महत्व है। शब्द-चयन के द्वारा कवि की वैयक्तिक शक्ति का परिचय मिलता है। सहज अर्थ-बोध के निमित्त शब्दों का चुनाव उतना ही आवश्यक है, जितना काव्य के लिये अलंकार। काव्य प्रकृत्या अलंकार्य है, और समलंकृत काव्य लोकोत्तर-चमत्कारकारी वैचित्र्य की सृष्टि करता है। शब्द और अर्थ भी अलंकार्य हैं, क्योंकि ये ही काव्य के निर्माणतत्व हैं। अतएव शब्द और अर्थ की सजावट को ही वक्रोक्ति कहेंगे।

अलंकार-शून्य काव्य असंभव है, और काव्य-रचना के पश्चात् उसकी सजावट उपहासास्पद। जब कविता का आविर्भाव होता है, तब उसके साथ उसके अलंकार भी होते हैं। क्योंकि रचना अथवा निर्माण की क्रिया में ही रचनाकार शब्द और अर्थ के समीकरण के समय अलंकारों से उसका शृंगार कर देता है। वस्तुतः इसी अवस्था में अलंक्रिया संभव है। काव्य की प्रकृति के अनुकूल भी।

जिस प्रकार अलंकार-शून्य काव्य असंभव है, उसी प्रकार आकर्षण-रहित अलंकार की कल्पना भी नह की जा सकती। कुंतक की दृष्टि में वक्रोक्ति ही अलंकार बनकर उसका आकर्षण बन जाती है। शरीर और आत्मा में भेद है। परंतु अलंकार और आकर्षण में कोई भेद नहीं; क्योंकि दोनों के मूल में वक्रोक्ति आत्मा बनकर बैठी रहती है।

वक्रोक्ति-मूलक कविस्वभाव काव्य के अनंत भेद-भिन्नत्व का कारण होता है। परंतु कुंतक ने सामान्य भेदों को छोड़कर केवल तीन की ही चर्चा की है। यथा—(१) स्वभावसुकुमार, (२) विचित्र, (३) उभयात्मक।

लोकोत्तर आह्लादकारित्व की दृष्टि से ये तीनों भेद, अपने गुण में, किसी से न्यून नहीं; क्योंकि प्रत्येक के आधार में कवि का चमत्कार-कारी कौशल ही प्रधान है। दंडी ने, अपनी व्याख्या में, काव्योत्कर्ष की उपलब्धि के तीन मार्ग बताए हैं। इन्हीं मार्गों से चलकर कवि अपने

काव्य में सफलता प्राप्त करता है। कुंतक ने भी दंडी की भाँति ही मार्गों का उल्लेख किया है। ये मार्ग वस्तुतः कवि-प्रस्थान के हेतु हैं, और इसके तीन प्रकार हैं—(१) सुकुमार, (२) विचित्र, (३) मध्यम अथवा उभयात्मक।

क्योंकि काव्य के भी ये ही तीन भेद हैं, यहाँ इस बात का संकेत आवश्यक प्रतीत होता है कि काव्य और मार्ग का यह भेद, सिद्धांत की दृष्टि से ही किया गया है। व्यवहार में दोनों एक हैं। उपचार के माध्यम से काव्य के लक्षण ही मार्ग के गुण बन जाते हैं।

रीति और गुण को कुंतक ने वक्रोक्ति में स्थान नहीं दिया। वामन ने रीति को ही काव्य का प्राण माना है। परंतु कुंतक की दृष्टि में, रीति कवि के प्रस्थान का एक मार्ग है, जिससे चलकर कवि अपने काव्य में उद्देश्य की प्राप्ति करता है। दंडी ने 'गिराम् मार्गः' ही कहकर छोड़ दिया है। ध्वनि-सिद्धांत के समर्थकों को रीति-मार्ग अमान्य है; क्योंकि उनकी दृष्टि में, रीति का अंततः रस में विलयन हो जाता है, और रस ही काव्य की आत्मा है। कुंतक का दृष्टिकोण यहाँ भी अत्यन्त उदार है। रीति का रस में विलयन नहीं होता। कवि जब काव्य-रचना में संलग्न होता है, तब उसे किसी एक मार्ग से चलना होता है। संभवतः इस क्रिया में काव्य के समस्त तत्त्व—रस, ध्वनि, गुण और अलंकार—अपने आप उसके क्षेत्र में आ जाते हैं।

कुंतक ने कवि-प्रस्थान के तीन मार्ग बताए हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इनमें से प्रत्येक के अलग-अलग लक्षण और गुण होते हैं। जैसे—

मार्ग	लक्षण
(क) सुकुमार—	सौकुमार्य, नव-शब्दार्थ-बंधुरता, रसादि-परमार्थ-ज्ञान—मनःसंवाद-सौंदर्य, रमणीयता तथा विदग्धता।

गुण

(१) माधुर्य—असमस्त मनोहारी पद—श्रुतिरम्य एवं अर्थ-रमणीय । (२) प्रसाद—पदों का असमस्तत्व, प्रसिद्धाभिधानत्व, अव्यवहितसंबंधत्व । (३) लावण्य—वर्ण-विन्यास और शब्द-संधान से उत्पन्न बंध-सौंदर्य । (४) आभिजात्य—कृतिपेशलता, स्वाभाविक मसृणता ।

मार्ग — लक्षण

(ख) विचित्र—दुर्गमत्व—संस्कृतिमूलक एवं अभ्यासजन्य प्रौढ़ता । प्रतिभोल्लेख, उक्ति-वैचित्र्य, वाच्य-वाचक-व्यतिरिक्त वाक्यार्थ ।

गुण

(१) माधुर्य—त्यक्तशैथिल्य, बंध-बंधुरता, वैदग्ध्यस्पन्दि । (२) प्रसाद—ओज । (३) लावण्य—अलुप्तविसर्गान्त पद-योजना । (४) आभिजात्य—अनतिकोमल, अनतिकठिन ।

मार्ग — लक्षण

(ग) उभयात्मक—सहजाहार्य, नानारुचिमनोहर, शोभातिशयता ।

गुण

(१) सुकुमार और विचित्र मार्ग के अंतर्गत आए समस्त गुण तथा (२) औचित्य और (३) सौभाग्य । औचित्य में वक्तृ, वाच्य, भाव, विभाव तथा अनुभाव का रसानुकूल नियंत्रण एवं सौभाग्य में प्रतिभाप्रसूत चेतना-चमत्कारित्व आता है ।

संक्षेप में, कुंतक के अनुसार सुकुमार मार्ग पर प्रस्थान करनेवाले कवि स्वभाव से ही कवि होते हैं । यह मार्ग रीतिवादियों द्वारा वर्णित वैदर्भी रीति से बहुत कुछ मिलता-जुलता है । कालिदास और अश्वघोष इसी मार्ग के अनुयायी माने जा सकते हैं । कुंतक का विचित्र मार्ग अति

दुःसंचर है। उस पर चलना तलवार की धार पर चलने के बराबर है। यह मार्ग रीतिवादियों की गौड़ी रीति के समान है। भवभूति और बाण-भट्ट इसके आचार्य माने जा सकते हैं। उभयात्मक मार्ग में दोनों मार्गों का संयोग होता है। कवि की प्रतिभा और चमत्कारकारित्व, एक दूसरे का पूरक बनकर, ऐसे काव्य की सृष्टि करते हैं, जिसका प्रत्येक पद श्रेष्ठता तथा उत्कृष्टता की दृष्टि से परस्पर स्पर्द्धा करता है।

कुंतक ने काव्य के तीन भेद माने हैं, और यह वर्गीकरण कवि की शक्ति (Genius), व्युत्पत्ति (Training) तथा अभ्यास (Practice) के अनुसार किया जा सकता है। इन तीन भेदों के अनुसार तीन रीतियाँ होती हैं, और प्रत्येक काव्य, रीति तथा मार्ग के आधार में वक्रोक्ति ही प्रधान होती है। वक्रोक्ति के छः प्रकार हैं, जिनमें रस, ध्वनि, अलंकार आदि सभी समाहित हैं। काव्य के जितने तत्त्व हैं, कुंतक ने उनमें कोई सिद्धांत-मूलक भेद नहीं माना। जब वक्रोक्ति ही काव्य का मूलाधार है, तब किसी ऐसे स्पष्ट भिन्नत्व की स्थापना की आशा भी नहीं की जा सकती थी। अपने सिद्धांत के विवेचन में रस, ध्वनि और अलंकार-तत्त्व की उपेक्षा न करके, जब जहाँ उनका प्रसंग आया, कुंतक ने उन्हें मान्यता दी। हाँ, यह नहीं कहा कि अमुक तत्त्व मुख्य है और अमुक गौण।

कुंतक की दृष्टि में सौंदर्य सौंदर्य ही है। उसका एकांगी मूल्यांकन असंभव ही नहीं, अनुचित भी है। काव्य-सौष्ठव की वृद्धि गुणों के समन्वय से होती है, अथवा अलंकारों के योग से, यह प्रधान नहीं। काव्य-सौष्ठव ही प्रधान है। कीट्स ने भी कहा था—

"A thing of beauty is a joy for ever".

कला का आनन्द

शकुन्तला के सौन्दर्य-वर्णन के प्रसंग में कालिदास ने बड़ी गहराई में जाकर कला के आनन्द की ओर मार्मिक संकेत किया है। न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्—प्रभातरल ज्योति वसुधातल से उदित नहीं होती। यद्यपि यह उक्ति, शकुन्तला की शरीर-कांति को लक्ष्य कर कही गई है, तथापि यह स्पष्ट रूप से इसमें घोषित है कि (शकुन्तला की भांति ही) कला के रूप-विधान में मानवीय और लोकोत्तर दोनों अंश विद्यमान हैं। यह भी घोषित है कि कला मानव-हृदय की अपरिमित पवित्रता और उसमें ऐशिक कांति के प्रतिफलन का ही सुपरिणाम है।

भवभूति ने भी एक ऐसे ही प्रसंग का वर्णन किया है:—

संभूयेव सुखानि चेतसि परं भूमान मातन्वते
यत्रालोक पथावतारिणि रतिं प्रस्तौति नेत्रोत्सवः।
यद्बालेन्दुकलोच्चयादवचितैः सारैरिवोत्पादितं
तत्पश्येमनंगमंगलगृहं भूयोपितस्या मुखम्॥

इसमें कला के आनन्द एवं सौन्दर्यमूलक रसानुभूति की चार महत्त्व-पूर्ण विशेषताओं का उल्लेख है। परं भूमानं, रति, सारः और अनंगमंगल-गृह। अर्थात् ऐसी हर्षानुभूति से मस्तिष्क का उत्कर्ष, विस्तार और उत्सेध होता है; गहरे, आत्यंतिक और उत्कृष्ट आनन्द का उद्भव होता है जो जीवन का सार-तत्त्व है। यह आनन्द अशरीरी एवं शुभंकर होता है—लौकिक सुख तथा प्रपंचासक्ति से भिन्न उच्चस्तरीय एवं आध्यात्मिक उल्लास का सम्पर्कीय।

रससिद्ध कवियों और सौंदर्यशास्त्रियों की यह घोषणा उत्क्रांमर्याद नहीं कही जा सकती। कला की अनुभूति में आत्मानंद की उज्ज्वल ज्योति विकसित मस्तिष्क के त्रिपार्श्वकाच से टकराकर सौंदर्य की बहुरंगी भ्राजिष्णुता में विकीर्ण हो जाती है। इस अनुभूति का रूप सर्जनात्मक होता है; आनंद-आमोद-सार। वह स्वयं में इतनी प्रबल-प्रकृष्ट होती है कि कोई भी अनाहूत निम्नस्तरीय सुख-दुःख की भावना उसको स्पर्श नहीं कर सकती।

संपूर्ण प्रकृति भावचैतन्य प्राणधारण की तीन स्थितियों में विभक्त है; सत्त्व, रजस् और तमस्। 'सत्त्व' मस्तिष्क की पवित्र, चकासित और प्रमोदिनी स्थिति का प्रतीत होता है; वह आत्मा को ज्ञान एवं आनंद की कड़ियों से विश्वलोक के साथ बाँध देता है। कला में इसी सत्त्व का प्राबल्य पाया जाता है जिसके प्रभाव से मस्तिष्क अपनी स्वच्छता, उद्भास और रागात्मक प्रहर्ष को तो सम्हाले रहता ही है, साथ ही वह लोकोत्तर आनंद को भी अपने में उतार कर, अपने में भर कर उसे प्रतिबिम्बित कर सकता है।

यहां पर आध्यात्मिक रसानुभूति एवं सौंदर्यमूलक रसानुभूति दोनों की किंचित् तुलना आवश्यक प्रतीत होती है। दोनों में विच्छेदकारी विषयासक्ति की व्यावृत्ति विद्यमान रहती है तथा आवरण-भंग के फल-स्वरूप आत्मा के आनंदांश का उद्धरण होता रहता है। सौंदर्यमूलक

रसानुभूति में आत्मापरक आनन्द रंजित हो जाता है; अतएव वह रति-भाव से प्रभावित होकर नष्टकांति-सा दीखता है। इसके विपरीत आध्यात्मिक रसानुभूति में आत्मा का आनन्द निरंतर चमकता रहता है; न उसकी कांति नष्ट होती है, न वह विभक्त होता है। एक अंतर यह भी है कि सौंदर्यमूलक रसानुभूति में आत्मा का आनन्द और उसका बोध, अपनी स्वाभाविक दीप्तिमान तेज में अभिव्यंजित न होकर रति-जैसी रागात्मिका प्रवृत्तियों में अभिव्यंजित होता है।

साहित्य दर्पणकार ने रस-प्रसंग में 'ब्रह्मानन्दसहोदर' शब्द का प्रयोग किया है। इसी प्रकार दशरूपककार ने सौन्दर्यानुभूति के प्रसंग में 'आत्मानन्दसमुद्भव' शब्द लिखा है। एक के अनुसार रस ब्रह्मानन्द सहोदर ही है। दूसरे के अनुसार सौन्दर्यानुभूति आत्मानन्द से उद्भूत, एक विशिष्ट मनःस्थिति है। स्पष्ट ही दोनों का संकेत भारतीय सौन्दर्यवाद एवं भारतीय अध्यात्मवाद के पारस्परिक सम्बन्ध की ओर है। कलात्मक सौन्दर्य से निःसृत आनन्द आध्यात्मिक परमानन्द का यौक्तिक है, त्रिपार्श्वकाचविकीर्ण होकर भी वह उसका स्वगोत्रज बना रहता है। हम उसे प्रतिविम्बतानन्द कह सकते हैं।

ऐशिक ऐश्वर्य एवं विभूतियों का प्रकटीकरण स्वभावतः हमें मोहित कर लेता है; हमारी दृष्टि और कल्पना को उद्दीप्त करता है; हमारे साहजिक ज्ञान को उल्लसित करता है। इस संस्पर्श से आत्मा की आत्माभिव्यक्ति के बाधक प्रतिष्टम्भ टूट जाते हैं और आत्मा का प्रहर्ष रागात्मक भावों की उपकुल्या से चलकर कला की रंगीनियों और रागिणियों में फूट पड़ता है।

लौकिक सुख आत्मा के लिये पाराताल एवं ईश्वरोन्मुख प्रगति के पथ में बाधक सिद्ध होता है। परंतु कला का आनन्द अपनी अन्तर्भूत पवित्रता और शांति के कारण आत्मा के विकास का उद्बोधक बन जाता है। महर्षि बाल्मीकि का उदाहरण यहाँ अप्रासंगिक नहीं होगा। अनवरत तपस्या और साधना से स्निग्ध उनका हृदय एक प्रातःकाल,

अनुकम्पा की पुलकित घड़ियों में हिल गया और अन्तः सलिला करुणा से कविता की रागिनी फूट पड़ी। इसका एक मात्र कारण यही है कि उदात्त भावों का रस, जिससे सौन्दर्य-मूलक आनन्द अलग नहीं, लौकिक सुख की अपेक्षा आध्यात्मिक परमानन्द के अधिक निकट होता है।

अभिव्यक्ति कला की आत्मा तो है ही, साथ ही वह अपनी परिणति भी है। यह परिणति अनुभूत सौन्दर्य की निर्मल वाणी होती है। कलाकार की आनन्दानुभूति उसकी अपनी सम्पत्ति होती है, यह निर्विवाद है। लेकिन यह भी सत्य है कि उसकी अनुभूति अभिव्यक्ति के माध्यम से लोकोपकारी सिद्ध होते हैं, जो मानव-मंगल की दृष्टि से अपरिहार्य है। कलाकार बोध-शक्ति, चित्त-बोध, इन्द्रिय-बोध एवं आध्यात्मिक चेतना के संयोग से अपनी मनःस्थिति का निर्माण करता है, जिसका प्रभाव दूसरों के मन-मस्तिष्क पर भी पड़ता है। उसका प्रतीकात्मक मनः-परिकल्पन अपनी प्रेषणीयता के जादू से दूसरों के हृदय में भी सौंदर्यानु-नुभूति की लहरें उठा देता है। यदि कला की यह विशेषता न होती, यदि कलाकार को यह शक्ति प्राप्त न होती, तो मानव के सपने शून्य में खोजाते, मानव-जीवन रेगिस्तान-सा दीखता और मानव द्वारा अनुभूत आनन्द का कहीं उल्लेख ही नहीं मिलता।

धर्म और दर्शन को छोड़कर कला का ही एक ऐसा क्षेत्र है, जहाँ संसार अपनी भिन्नताओं के बावजूद अभिन्न और सांध्वनिक दीखता है। कलाकार संसार सुश्लिष्ट, समंजस एवं उद्बोधक होता है। कोई भी भेदकर विसंवादी तत्त्व उसकी एकलयता नहीं नष्ट कर सकता। कला सर्जनात्मक सौन्दर्य-बुद्धि का वरदान है, सृष्टिकारिका चित्तवृत्ति का अवदान है। इसीलिये वह इतस्ततः बिखरी हुई समस्त सौन्दर्य-रश्मियों को बटोरकर एक सूत्र में पिरोती है और उस प्राणमय उद्बोधक विश्व का निर्माण करती है, जहाँ जीवन आनन्द की स्निग्धता में विराट सौंदर्य का स्पर्श करता रहता है।

भारतीय और पाश्चात्य सौंदर्य-मान

आदि मनुष्य अपनी चारों ओर अपार सौंदर्य-राशि देखकर आत्म-विभोर हो गया। जिस प्रकार उच्छल जलधार इठलाती हुई आगे बढ़ती है और पत्थर का हृदय छेदकर कल-कल-निनादिनी निर्झरिणी के रूप में फूट पड़ती है, उसी प्रकार आदि मनुष्य की तन्मयता चेतना के स्पर्श से बार-बार मुखरित हो उठी। यहीं कला की उत्पत्ति हुई। मनुष्य ने अपने हृदय के उद्गारों को लिपि-बद्ध किया; यही कविता की सृष्टि थी। शारीरिक अभिव्यक्ति की उत्कंठा से नृत्य का, मौखिक अभिव्यक्ति की इच्छा से संगीत का एवं प्रकृति के अनुकरण की इच्छा से ललित-कला का आरंभ हुआ। कविता हृदय के आवेगों का संगीत है। नृत्य शरीर के अवयवों का पुलकाकुल काव्य है। संगीत शब्दों का नृत्य है। कविता समस्त कलाओं की सम्राज्ञी है। मानव-मस्तिष्क पर, जो विचारों और संस्कारों की क्रीड़ाभूमि है, उसका सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है क्योंकि उसमें, तूलिका के रंगों के अतिरिक्त, नृत्य और संगीत-

तत्त्व का भी पूर्ण समावेश रहता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आनंद की अभिव्यक्ति ही सौंदर्य है और सौंदर्य की अभिव्यक्ति कला।

मनुष्य की आत्माभिव्यक्ति के मूल में बसनेवाले इस सौंदर्य का अविच्छिन्न संबंध, हमारे जीवन के संस्कारों के साथ ज्ञात-अज्ञात रूप से चलता आया है। आत्मा इस सौंदर्य के अन्वेषण में निरंतर संलग्न रही है। तो क्या हमारा सौंदर्य-प्रेम इसी संधान का परिणाम है? अथवा सौंदर्य उन टूटी हुई कड़ियों का, उन बिखरी हुई लड़ियों का आह्वान है, जिनकी वेदना आत्मा और परमात्मा के बीच चिरंतन संगीत की भाँति उमड़ती रहती है? सौंदर्य के सार-तत्त्व का पता कहां मिल सकता है? वह पदार्थ-विषयक है अथवा आत्म-विषयक?

इन प्रश्नों का उत्तर सरल नहीं है। इनमें से प्रत्येक का संबंध संपूर्ण विश्व में आदि-काल से संचारित मनुष्य की विचार-धारा, उसके संस्कार, उसकी मान्यताओं और आदर्शों से है। कुछ आचार्यों के मत में एकता, गति, संतुलन, तथा सादृश्य ही सौंदर्य के मौलिक तत्त्व हैं। कुछ लोगों का कथन है कि अनेकता में एकता, विभिन्नता में सानुरूपता सौंदर्य का मूलाधार है। कुछ ऐसे विचारक भी हैं, जो सुव्यवस्था को ही सौंदर्य का मूल तत्त्व मानते हैं; कुछ एकलयता को मानते हैं। इनसे भिन्न कुछ चिंतक हैं जिनके अनुसार रंग, आकार, भ्राजिष्णुता, अभिव्यंजना, शालीनता आदि गुणों के संयोग से ही सौंदर्य का आविर्भाव होता है।

मानव-जाति की प्रत्येक शाखा ने अपने आदर्शों एवं मान्यताओं के अनुसार सौंदर्य को देखा-समझा और उसके विषय में अपनी भावनाओं की कलात्मक अभिव्यक्ति की। मिश्र देश की कला में बाहुल्य और विस्तार का प्राधान्य है; साथ ही उसमें वर्णन का संयम भी मिलता है। यहूदियों की कला में विश्वदेवतावाद तथा ब्रह्मवाद का अभाव है। उसमें द्वैतवाद का ही प्राधान्य है क्योंकि यहूदियों का, अध्यात्मवाद

अथवा सौंदर्यानुभूति की अपेक्षा आचार-विधि के प्रति अधिक झुकाव था। सर्वप्रथम यूनान की कला में ही सत्य-शिव-सुंदर का सम्मिश्रण हुआ। सौंदर्य के प्रति यूनानियों के हृदय में कोमल आग्रह था और उनकी सूझ की गहराई में सौंदर्य-स्पर्श की शक्ति थी। उनकी चेतना अधिक संस्कृत और जागरूक थी। संतुलित मस्तिष्क एवं स्वस्थ-सुंदर शरीर, यही उनका आदर्श था। यही कारण है कि यूनानी कला में देवत्व के मानवीकरण का प्रमाण प्रचुर मात्रा में मिलता है।

परंतु यूनान का सौंदर्य मात्र यष्टि के समविभक्तत्व, मांसलता पर आश्रित प्रतीत होता है। वहाँ के चित्रों और मूर्त्तियों से इसका प्रमाण मिलता है। देवपुत्र विजेता अलक्षेन्द्र शरीर से सुगठित, सुदृढ़ अथक आकर्षक था, पर उसकी अन्तश्चेतना, अंतःसंज्ञा निष्ठुर दिग्विजय की क्रूर कामना से आक्रांत थी। उदात्त वृत्तियों के स्फुलिंग उसमें अवश्य दीख पड़ते हैं, परंतु बहुत कम और वे बहुत निर्बल हैं। साथ ही यह भी चिंत्य है कि तद्देशीय सौंदर्य व्यावहारिक जीवन की उपयोगिता अथवा अन्य उदात्त उद्देश्य की सिद्धि में भी सहायक होता है क्या!

यहाँ पाश्चात्य देशों के कुछ चिंतकों के विचारों का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। सुकरात के अनुसार सुंदर अपने सौंदर्य-गुण के कारण ही शिव है। प्लेटो के विचार में संस्कार की पवित्रता से प्रेरणा पाकर मनुष्य की आत्मा असीम सौंदर्य की ओर उन्मुख होती है और इसी अन्वेषण का परिणाम पार्थिव-सौंदर्य-प्रेम के रूप में प्रगट होता है। दृश्य-लोक का कण-कण एक दर्पण है जिसमें उस असीम सौंदर्य की झाँकी मिल सकती है। स्थूल से सूक्ष्म की ओर, आकार से भाव की ओर चलना कला की जय-यात्रा का पर्याय है। अरस्तू ने असीम सौंदर्य को पृथ्वी के सापेक्ष उपकरणों से पृथक नहीं माना। उसकी दृष्टि में सौंदर्य-भावना निस्वार्थ भावना का प्रतीक है। सौंदर्य के प्रति स्वत्वाधिकार की वासना असुंदर का रूपान्तर है। प्लोटिनस के

अनुसार अनन्त सौंदर्य की अनुभूति, किसी निष्कर्ष के माध्यम से नहीं, प्रत्युत् साहजिक ज्ञान से ही होती है। सौंदर्य-दर्शन के पूर्व मानव-मस्तिष्क स्वयं ही सुन्दर हो जाता है। गेटे के अनुसार सौंदर्य अवर्णनीय है; वह एक तिरती हुई, नाचती हुई, चमकती हुई छाया के समान है जो परिभाषा की पकड़ में नहीं आ सकती। शिलर के विचार में सौंदर्य मनुष्य की आवेगात्मिका क्रीड़ा-प्रवृत्ति की सुघर रचना है। हीगल की दृष्टि में जब मनुष्य इन्द्रियों के माध्यम से अपने मस्तिष्क अथवा भावों को खोल देता है तब सौन्दर्य की अनुभूति होती है। शोपेन्हर का कथन है कि जब हमारी वासनाएँ गति-हीन हो जाती हैं और हमारी आत्मा पूर्ण शांति का अनुभव करती है, तभी हमें सौंदर्य, पूर्णत्व एवं अनन्त की अनुभूति होती है। कॉम्टे के अनुसार शारीरिक सौंदर्य आत्मिक सौंदर्य का दर्पण है। क्रोशे की दृष्टि में सौंदर्य अन्तर्ज्ञान की वाणी का दूसरा नाम है; वह मनुष्य को कल्पना-शक्ति की परम-विजय का प्रतीक है। रस्किन के मत में यदि कला जीवन है तो सौंदर्य आत्मा है। इमर्सन के अनुसार सत्य-शिव-सुन्दर एक ही विश्वात्मा की भिन्न-भिन्न आकृतियाँ हैं। कीट्स ने सत्य और सौंदर्य को एक माना है।

अब हम भारतीय दृष्टिकोण का विवेचन करें। भारतीय चिंतकों, दार्शनिकों की शैली प्रधानतः प्रतीकात्मक रही है। उन्होंने दृश्य-लोक के समस्त तत्त्वों का विचार-शक्ति से विश्लेषण किया, तत्पश्चात् अदृश्य के रहस्य का अनुसंधान और उद्घाटन किया। यही कारण है कि निखिल प्राकृतिक सौंदर्य वेद-वर्णित ऊषा की एक-एक किरण में पूञ्जीभूत हो गया; वरुण और मरुत समष्टि की दिव्यता के प्रतीक बन गये। यह प्रतीक योजना आनंदातिरेक का परिणाम है और आनंदातिरेक सौंदर्य-बोध की विशिष्टता मानी जाती है। सौंदर्यभावक का हृदय उतना ही महान होता है जितना वह सौंदर्य जिसका प्रतिबिम्बन उसकी अनुभूति को

पुलकित करता है। ईशोपनिषद् में उपासक घोषणा करता है—आदित्य-मंडल में स्थित मैं ही स्वयं ज्योति रूप पुरुष हूँ। यह घोषणा सादृश्य की अभिव्यंजना है। आँखें सूर्य को तब तक नहीं देख सकतीं, जब तक कि वे सौर-मंडल के आलोक को अपने में भर नहीं लेतीं। मस्तिष्क जब तक स्वयं ही सुन्दर नहीं बन जाता, तब तक वह सौंदर्य की कल्पना नहीं कर सकता। सम्पूर्ण प्रकृति अलौकिक पुरुष के लावण्य से ओत-प्रोत है। तन्मय होकर ही लौकिक प्राणी इस लावण्य के सुख का अनुभव कर सकता है।

उपनिषदों के ऋषियों ने आनंद में ही सौंदर्य का आरोप किया है। तैत्तिरीयोपनिषद् में इसका स्पष्ट संकेत है—

तस्माद्वा एतस्माद्वि ज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः।
तस्यप्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उतरः पक्षः।
आनन्दआत्मा। ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा।

(वल्ली २—अनुवाक—५)

आनंद-तत्त्व विज्ञान-तत्त्व से भी अधिक सूक्ष्म होता है। उस इस विज्ञानमय से दूसरा इसका अन्तर्वर्ती आत्मा आनन्दमय है। सौंदर्यानुसार सौन्दर्यानुभूति से ही इस हर्ष अथवा आनंद का उद्भव होता है और यही हर्ष मस्तिष्क है। मोद अर्थात् रसानुभूति दक्षिण पक्ष है। प्रमोद अर्थात् सौंदर्य की रसानुभूति की अभिव्यक्ति वामपक्ष है। हर्ष, मोद और प्रमोद का संयोग ही आत्मा है जिसका आधार ब्रह्म है।

आनंद के सौंदर्य-मूलक के रूप के साथ उसके आध्यात्मिक रूप के तादात्म्य की स्थापना का दूसरा उदाहरण तैत्तिरीयोपनिषद में ही इस प्रकार है:—

आनंदो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनंदाद्धेत्यव खल्विमानि
भूतानि जायन्ते। आनंदेन जातानि जीवन्ति।
आनंदम् प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।

(वल्ली—३ अनुवाक—६)

अर्थात् आनंद ही ब्रह्म है क्योंकि आनंद से ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं; उत्पन्न होकर आनंद के द्वारा ही जीवित रहते हैं; प्रयाण करते समय आनंद में ही समा जाते हैं।

सौंदर्य और आनंद का यह समीकरण पश्चिम की पहुँच के बाहर की बात है जहाँ, प्रायः हर युग में; कला के स्वरूप को लेकर आंदोलन चलते रहे हैं। भारतवर्ष में न केवल ऋषियों, दार्शनिकों और चिंतकों ने प्रत्युत् साहित्य शास्त्रियों ने भी सौंदर्य में आनंद की कल्पना की और रस को ब्रह्म के समकक्ष बैठाया।

हमारे मनीषियों ने सौंदर्य-विवेचन में वाह्याकृति को भी स्थान दिया है। भारतीय काव्य में सौंदर्य की अभिव्यक्ति के लिये सामान्यतः तीन शब्द आए हैं—सुन्दरता, रमणीयता और चारुता। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर लगता है कि इन शब्दों के प्रयोग द्वारा सौंदर्य के तीन लक्षण बताये गए हैं। क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः। चिर नवीन भाजिष्णुता, चाहे वह रुपयुक्त हो अथवा अरूप, सौंदर्य की एक विशेषता है। हीरे की कनी को सूर्य के प्रकाश में देखने से प्रत्येक क्षण नई ज्योति-रश्मियाँ विकीर्ण होते दीख पड़ती हैं।

दूसरी विशेषता है भावक जन्म-जन्मान्तर की संस्कार-मूलक अनुभूति। इसे कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तलम् में इस प्रकार व्यक्त किया है—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान
पर्युत्सुकी भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।
तत्त्येतसा स्मरति नूनमबोधा पूर्व
भावस्थिराणि जननान्तर सौहृदानि ॥

अर्थात्, सुन्दर वस्तु को देखकर अथवा सान्ध्वनिक स्वर को सुनकर सुखी मनुष्य भी क्यों उदास और व्याकुल हो जाता है, इसका कारण

यह है कि यद्यपि उसकी अनुभूति चेतनास्तर तक नहीं पहुँचती तथापि वह पूर्वजन्म के सौहार्द्य-सुख की स्मृति से भर जाता है। ऐसी स्मृतियाँ इसके आवेगों के साथ अखंड रूप से एकीकृत हो जाती हैं।

वाह्याकृति प्रधान सौंदर्य में माँसलता के अतिरिक्त अन्य सुकुमार गुण भी माने गए हैं; सुडौल अवयव-संघटन के साथ-साथ कान्ति, उन्मादकता और परिमलयुक्त कुसुम-पेलवता भी होनी चाहिए। इन्हीं उपादानों से रूप में मनोहरता का संविधान होता है। तुलसी और सूर–जैसे कवियों ने भी सीता और राधा के सौंदर्य की तुलना चमकती हुई तड़िल्लता से की है। राम के सौंदर्य में भी कोटि मन्मथमन्मथत्व का गुण विद्यमान था।

तीसरी विशेषता मूलतः एक विश्वास है कि समस्त पार्थिव सौंदर्य ईश्वर के असीम सौंदर्य की झाँकी भर है जिसे पाने के लिये मानव-आत्मा निरंतर लालायित रहती है। वस्तुतः ईश्वर सौंदर्य-सार-सर्वस्व है जिसकी अभिव्यक्ति सच्ची कला का उद्देश्य है।
